ब्रह्म सूत्र



श्री सनातन आश्रम
गौराबाग, कुर्सी रोड, लखनऊ

ब्रह्म सूत्र

•

प्रवर्णितम्

श्री स्वामी सनातन श्री

भाष्य

•

निष्काम सेवार्थम्

•

मूल्य – अमूल्य

•

निष्काम–पीठ प्रकाशन

श्री स्वामी सनातन श्री न्यास

श्री सनातन आश्रम

गौरा बाग, कुर्सी रोड, गुडम्बा थाने के सामने, लखनऊ-20

मोबाइल : 8707651736, 8853102374

★

नोट : पुस्तक में प्रकाशित किसी भी विचार एवं त्रृटि के लिय मुद्रक का किसी भी प्रकार का कोई उत्तरदायित्व नहीं है।

★

प्राप्ति स्थानः

❖ **श्री सनातन आश्रम**

गौरा बाग, कुर्सी रोड,
गुडम्बा थाने के सामने, लखनऊ-20
मोबाइल : 8707651736, 8853102374

★

❖ **शिव शान्ति सदन**

179, सराय हसनगंज,
बालाजी साड़ी के सामने,
बाबूगंज पुलिस चौकी के सामने,
लखनऊ-226020
मोबाइल : 98380 77297, 70809 16201

ॐ

एक परिपक्व मानसिकता जब कोरी सांसारिकता से बाहर निकलती है तो विस्तृत प्रकृति की भांति व्यापक होती चली जाती है। व्यक्ति स्वयं को प्रकृति में खोजने लगता है। हर ओर अपनी ही आत्मा का दर्शन करने लगता है। यहाँ पर उसकी अवस्था शरीर मात्र ही नहीं है, असंख्यों जीवों में हर रूप ही नहीं है, असंख्यों जीवों में हर रूप में, हर रंग में, जीवमात्र में स्वयं को पाता है तथा सूक्ष्मता से स्वयं को पढने लगता है।

– स्वामी सनातन श्री

श्री ब्रह्म मुख से दिव्यता स्वयं मुखरित

जीवन की अवधारणा को लेकर नाना मतभेद सदा ही रहे हैं। आदि वेदादिक की मान्यतानुसार जीवन धरती पर बृहस्पति ग्रह से धरा पर उतारा गया था। बृहस्पति ग्रह निरन्तर ग्रह की अवस्था से निकलकर सूर्य की अवस्था में बदल रहा था। यह प्रकृति का सर्वमान्य नियम है। ग्रह समय की सीमा को लांघकर धूम्रकेतु बन आकाश में मृत्यु को प्राप्त हों अथवा रूद्रवलय को धारण कर अनन्तायु सूर्य की अवस्था पायें। नियमानुसार बृहस्पति भी सूर्य की अवस्था की ओर तेजस को प्राप्त हो रहा था। मानव जीवन को अन्यत्र स्थानान्तरित करना महाराज सगर की अनिवार्यता बन गयी। इसकी चर्चा वेदों तथा महाभारत महाकाव्य में है। बहुत से अभियान असफल हुए। अन्ततः देवगुरू बृहस्पति के सद्प्रयास सफल हुए। महाराज दिलीप एवं उनकी महरानी के निशेचित भ्रूण को देव गाय माता सुरभि की बेटी नन्दिनी सुनयना के गर्भ में स्थापित कर तथा नन्दिनी सुनयना को शीतनिद्रा में स्तम्भित कर पृथ्वी पर लाया गया। नन्दिनी के गर्भ से धरती पर प्रथम मानव पुत्र का जन्म महाराज रघु के रूप में हुआ। इन्ही से रघुवंश का धरा पर अवतरण हुआ तथा वे धरा के प्रथम मानव कहाये। इसकी चर्चा रघुवंश महापुराण में भी है। ऋग्वेद में सर्वत्र है। दैत्याचार्य शुक्राचार्य ने शुक्र तथा शनि ग्रहों से असुर संस्कृतियों को भैंसों के द्वारा उपरान्त में धरा पर उतारा था। महिषासुर प्रथम असुर बालक के रूप में धरती जन्मा था।

वेदादिक ग्रन्थों का अवतरण भी उसी काल में देवगुरू बृहस्पति द्वारा हुआ था। काल के लम्बे अन्तरालों में इनका ज्ञान लुप्त होता रहा, बहुत कुछ नष्ट हुआ, भ्रमित हुआ, बदलता रहा। भगवान श्रीवेदव्यास के अथक प्रयासों से उसे पुनः सृस्पष्ट किया गया। ब्रह्मसूत्र की रचना उनके सद्प्रयासों में एक सर्वोत्कृष्ट सम्पूर्ण ब्रह्म सृष्टि सदृश्य है।

स्वामी जी

प्रवेश से पूर्व

धर्म और सम्प्रदायः- धर्म तथा ग्रंथों के ज्ञान को लेकर समाज में बहुत सा भ्रम व्याप्त है। धर्म तथा सम्प्रदाय में मूलभूत भेद होता है और हम अक्सर साम्प्रदायिक मान्यताओं व आचार-विचार को धर्म मान लेते हैं जो कि दुर्भाग्यपूर्ण है। धर्म जीवन उत्पत्ति सृष्टि से जुड़ा ज्ञान तथा विज्ञान है जब कि सम्प्रदाय किसी व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्तियों के समूह द्वारा एक लंबे मसय तक जिन विचारों व मान्यताओं को स्वीकार किया जाता है, वह एक सम्प्रदाय विशेष का रूप ले लेता है और वही उनका धर्म हो जाता है। सनातन धर्म शब्द का अर्थ है, "नित्य" "अजर" "अमर"। इस प्रकार सनातन शब्द सम्पूर्ण सचराचर से लिया गया है। किसी व्यक्ति नामान्तर धर्म चलाने की कल्पना यहाँ नहीं की गयी है।

धर्म और सम्प्रदाय के भेद को स्पष्ट करने के लिए हम पवित्र माँ गंगा का उदाहरण लेते है। गंगा हिमालय से निकल कर सागर तक सतत् प्रवाहित होती है। गंगा का पवित्र निर्मल सदा बहता हुआ जल ही धर्म की मूल भावना को प्रदर्शित करता है। गंगा किसी से भेद नहीं करती है सभी जीव प्राणियों की प्यास बुझा कर उन्हें जीवन देती है। गंगा के ही दोनों तटों पर असंख्य मठ, मन्दिर स्थापित हैं जो विभिन्न सम्प्रदायों की भांति हैं। जो पूजा अर्चना तो गंगा (धर्म) की ही करते हैं परन्तु भेद-भाव की संकीर्णता से उपर उठ नहीं पाते है। गंगा सदा बहती रहती है और मठ (सम्प्रदाय) एक ही स्थान पर सीमित रहते है। यही धर्म और सम्प्रदाय का भेद है। अक्सर लोग मठ (सम्प्रदायों) को ही धर्म का मूल स्वरूप मान बैठते हैं जो कि नितान्त गलत है।

सनातन धर्म की मान्यताएँः- "एको ब्रह्म द्वितीयों नास्ति" सनातन धर्म की आदि कालीन अटूट मान्यता हैं भारत के संत आदिकाल से बहुत ही निर्मल, इच्छारहित और परहित में जीवन को उत्सर्ग करने वाले रहे हैं। धर्म ने ईश्वर की कल्पना जीव मात्र के शरीर में की है। सबमें ईश्वर आत्मा होकर बसते हैं **"एकोऽम बहुस्याम"**। ईश्वर के अनगिनत स्वरूपों को नाना प्रकार की मूर्तियों और मन्दिरों के रूप में पूजने की आदिकालीन परम्परा रही है।

मूर्तिपूजा पूर्णतया वेद सम्मत तथा मानव मनोविज्ञान का एक उच्चतम शिखर है, क्योंकि मानव मस्तिष्क बिना किसी रूप या आकार की कल्पना बिना कार्य नहीं करता है। सनातन धर्म की यह विलक्षणता रही है कि उसने मनुष्य को बुद्धि, विचारों की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की है, इसीलिए ईश्वर के निर्गुण तथा सगुण दोनों स्वरूपों की उपासना का विधान सनातन धर्म में आदिकाल से रहा है। नाना ग्रंथो की तरह नाना ऋषि, मनीषी जन, विचारक तथा संत समय के अंतरालों के प्रकट हुए और उन्होंने अपने मत व्यक्त किए। सनातन धर्म ने सबको धर्म पुरूष के रूप में स्वीकार किया, परन्तु उनके नाम पर धर्म चलाने की पराम्परा को अस्वीकार कर दिया। यहाँ जितने भी ऋषि, मनीषीजन और संत हुए उन्होंने सनातन धर्म से हटकर किसी धर्म की स्थापना भी नहीं करनी चाहिए। ये सम्प्रदायों को बनाने के पक्ष में भी नहीं रहे हैं। किसी संत और मनीषीजन के गोलोकवास के लम्बे काल के उपरान्त ही दासता के अंतरालों में सम्प्रदायों को सब कुछ मानकर, सम्प्रदाय चलाने की धारणाओं ने जन्म पाया है। छूआ-छूत, भेदभाव का चलन भी कुछ सम्प्रदायों की ही देन है, धर्म का इससे कुछ भी संबंध नहीं है। सम्प्रदायों द्वारा पवित्र धर्मग्रंथों की गलत व मनचाही व्याख्याओं द्वारा ही समाज में छुआ-छूत आदि धर्म विरोधी मान्यताओं का चलन हुआ है। पूर्ण बौद्धिक परिपक्वता को सनातन धर्म ने सर्वोपरि माना है। आदिकाल से ही तर्कशास्त्र को धर्म के साथ जोड़कर मनुष्य को तर्क की कसौटियों पर संदेह निवारण का व्यापक अधिकार दिया गया है। सनातन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें धर्म पर, मान्यताओं पर, यहाँ तक कि ईश्वर पर भी संदेह करने का अधिकार मनुष्य मात्र को दिया गया है। जो ईश्वर को नही मानते, ऐसे नास्तिक दर्शन को भी एक दर्शनशास्त्र के रूप में सनातन धर्म ने ग्रहण किया है।

ईश्वरः- ईश्वर शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा में ऐश्वर्य से होती है "जो प्राणिमात्र को ऐश्वर्य दे, स्वयं को भुलाकर, इच्छारहित और निष्काम होकर उसे कहते हैं, ईश्वर। वेद आदि धर्म ग्रंथो ने ईश्वर को मनुष्य से अलग नही किया है आत्मा शब्द को ही ईश्वर के रूप में सम्पूर्ण सचराचर में प्रतिष्ठित किया गया है। ईश्वर अर्थात् आत्मा, परमेश्वर अर्थात् परमात्मा। यहाँ सभी अवस्थाओं में केवल परम को ही जोड़ा गया है, जो कि संज्ञा न होकर मात्र"

विशेषण है। इससे भी स्पष्ट है कि आत्मा और परमात्मा को अलग-अलग नाम न देकर केवल सूक्ष्म और व्यापक बनाकर दर्शाया गया है। घट-घट वासी आत्मा ने पेड़-पौधों के गर्भ से मिट्टी को अन्न और फलों में लौटाया तथा पेट भरने का सम्मान प्राणि मात्र को मिला, जोकि उत्पत्ति तथा जीवन के रहस्यों को नहीं जानते हैं। इसी प्रकार घट-घट वासी आत्मा ने ही आत्म-यज्ञों के द्वारा अन्न को बालक में तथा जीवधारियों को यथा संतति में प्रकट किया, जबकि माता-पिता कहलाने का सम्मान मानव तथा समस्त प्राणिमात्र को मिला।

धर्म ने ईश्वर की कल्पना मनुष्यों को इसलिए नहीं दी कि वे डर, भय अथवा लोभ के लिए ईश्वर की उपासना करें। ईश्वर की कल्पना इसलिए प्रदान की गयी है कि धरती का मानव भी ईश्वर तुल्य बने प्राणि मात्र के सुख के लिए अपने सुखों का परित्याग करे तथा धरती माता की पीड़ाओं को दूर कर धरती को स्वर्ग सा सुन्दर व सुखद बनाये। इस प्रकार सनातन धर्म में ईश्वर की कल्पना विदेशी धर्मो अथवा सम्प्रदायों के बिल्कुल अलग है।

धर्मग्रंथः- सनातन धर्म की मान्यता है कि सम्पूर्ण प्रकृति, जीवन्त सचराचर ही परमेश्वर द्वारा लिखा जा रहा निरन्तर धर्मग्रंथ है तथा जीव मात्र एवं जीवन्त पेड़-पौधे, सचराचर ही परमेश्वर द्वारा लिखे जा रहे धर्मग्रंथ के अक्षर हैं, हम सब मनुष्य भी इसी धर्मग्रंथ के एक जीवन्त अक्षर हैं, जिसे परमेश्वर आत्मा होकर स्वयं लिखते हैं। **"पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यते"**। देखो ईश्वर का काव्य अर्थात् रचना जो न कभी मरती है तथा न ही जीर्णता को प्राप्त होती है। यही मूल धर्मग्रंथ है। कोई भी ईश्वरीय रचना जड़, मृत कागज अथवा भोजपत्रों या पुस्तकों में नहीं होती है। वेदों ने स्वयं माना है कि वे भी ईश्वरीय रचना प्रकृति के ही भाष्य ग्रंथ हैं, मूल धर्मग्रंथ नही हैं। इसीलिये सनातन धर्म में प्रकृति को ही मूलधर्म ग्रंथ माना है तथा प्रकृति के नियमन को ही धर्म की मान्यताओं तथा रीति-रिवाज के रूप में ग्रहण किया गया है, किसी व्यक्ति विशेष अथवा सम्प्रदायों के अपने चलन को धर्म के नियम नहीं बनाएं गए हैं।

सम्पूर्ण आध्यात्मिक ग्रंथों का मूल उद्देश्य मनुष्य की मानसिकता को पूर्ण परिपक्वता प्रदान कर ऋषि के स्तर तक लाने में है, जिससे यह

मूल धर्मग्रंथ अर्थात् प्रकृति को स्वयं आत्मस्थ होकर ग्रहण कर सके। इसीलिए सनातन धर्म में प्रकृति को ही मूलग्रंथ माना गया है तथा धर्म तर्क शास्त्र की कसौटियों से वरद किया गया है। अन्य धर्मों में तर्कहीन, संदेह रहित पशुवत आचरण को धर्म की राह माना गया है।

मन्दिर और यज्ञशालाः- मन्दिर तथा यज्ञशाला के रूप में मनुष्य को ही प्रतीक के रूप में प्रदर्शित किया गया है। मन्दिर और यज्ञशाला दोनों ही मानव के प्रतीक स्वरूप हैं। वेद ने मन्दिर को एक समाधिस्थ योगी के रूप में दर्शाया है। जैसेः पाल्थी के जैसा मन्दिर का चबूतरा, धड़ के जैसा गोल कमरा, सिर के जैसा गुम्बद तथा जटाओं के जूड़े जैसा कलश, आत्मा जैसी प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति तथा जीव के रूप में निमित्त सेवक पुजारी। श्रुति ग्रंथों वेद, ब्रह्मसूत्र आदि में इसी कल्पना को सर्वत्र ग्रहण किया गया है। यज्ञशाला के रूप में भी तथा यज्ञ के रूप में भी मनुष्य के स्वरूप को दर्शाया गया है। यथाः- आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव आचार्य है। प्राणवायु उपत्रृत्विज अर्थात उपाचार्य है। आत्म-ज्वाला, ब्रह्मग्नि को इस आत्म-यज्ञ की ज्वाला के रूप में दर्शाया गया है। शरीर को सामिग्री के रूप में ग्रहण किया गया है। जीव ही यजमान है। वेद में प्रत्यक्ष और परोक्ष दो यज्ञों कीसमानान्तर कल्पना की गयी है। वाह्य यज्ञ तथा आन्तरिक यज्ञ। आन्तरिक यज्ञ में आत्मा-आचार्य, प्राण-उपाचार्य, आत्म-ज्वाला यज्ञ की अग्नि, तन सामिग्री एवं समिधा तथा जीव यजमान है। वाह्य यज्ञ में यथा आचार्य, उपाचार्य, समिधा तथा पवित्र भोजन को सांकल्प के रूप में ग्रहण किया गया है। मंत्रोचार के द्वारा पवित्र अग्नि के रूप में प्रकट करने की परम्परा है तथा जीव यजमान है। इस प्रकार भीतर और बाहर दोनों यज्ञों में जीव को यजमान के रूप में ग्रहण किया गया है। यजमान उभय है। बाहर के यज्ञ में सांकल्प के साथ संकल्प पूर्वक उसे वाह्य जगत के असत्य अज्ञान तथा अतृप्तियों को भस्म करना है, तभी वह पूरी तरह से अतर्मुखी होकर स्वयं को उन्ही ब्रह्म-ज्वालाओं में अर्थात् आत्मा रूपी अग्नियों में यज्ञ करते हुए ब्रह्म ज्वाला के द्वारा नूतन जन्म को धारण करे। दूसरे जन्म को प्राप्त होता हुआ द्विज कहलाये। इसी कल्पना को गुरूकुल में यज्ञोपवीत के साथ आज भी ग्रहण किया जाता है। सनातन धर्म कीयह अद्भुत विलक्षण कल्पना है जिसकी चर्चा विश्व के किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदायों के ग्रंथो में

नहीं है।

राष्ट्र का नामः- वैदिक ग्रंथो में देश का नाम भरत-खण्ड के रूप में आया है। **"जम्बूद्वीपे भरतखण्डे"** यही हमारा जातिसंज्ञक परिचय है। हमारी धार्मिक, वैचारिक, समसामाजिक एंव परिपक्व मान्यता है। 'भरत' शब्द का प्रयोग 'भरतार' अर्थात् भरण पोषण करने वाले परमेश्वर के हित में लिया जाता है। दूसरे महान व्यक्तित्वों को सम्मानित करने के लिए भी इन शब्दों का प्रयोग होता है। चूँकि हमारा प्रभु घट-घट वासी है, सचराचर में व्याप्त है, इसलिए हमारा मातृस्थान भरतखण्ड कहलाता है। ''जम्बूद्वीप'' सम्पूर्ण धरती को कहते है। जब जीवन को धरती पर उतारने का प्रयास शुरू हुआ तो धरती को जम्बूद्वीप का नाम दिया गया क्योंकि सुदूर अंतरिक्ष से देखने पर सम्पूर्ण धरती एक जामुन के फल की भांति नीली आभा से युक्त दिखाई देती है इसलिए इसे जम्बूद्वीप कहते है। जम्बूद्वीप का भरतखण्ड अर्थात परमेश्वर का घर। हमारी मान्यता है कि भरत अर्थात परमेश्वर ही हमारा पिता है इसलिए भरत के पुत्र होने के कारण हम सब 'भारत' है। **भरतस्य अपत्यम् भारतम्।** हम महान भारत संस्कृति है। 'हिन्दु' 'इण्डियन' आदि शब्द विदेशी भाषाओं के है। दुर्भाग्यवश जब हमारा देश विदेशी दासता में बंध गया तो विदेशियों द्वारा मूल निवासियों को अपमान के रूप में इन शब्दों से सम्बोधित किया जाता था। यह दोनों शब्द (हिन्दु तथा इण्डियन) अपमान सूचक अपशब्द है। यह हमारी संस्कृति का दुर्भाग्य है कि आज हमें अपनी पहचान के लिये विदेशियों द्वारा दी गई अपमान जनक शब्दों का सहारा लेना पड़ रहा है। जब नागरिक के मन में रहेगा कि वह भारत है, ईश्वर का पुत्र है तो उसमें अपने होने का गर्व होगा तथा साथ ही अपनी कमजोरियों पर लज्जा का भाव, उसके गहरे मानस में उसे उद्वेलित करता रहेगा कि वह अपने पिता परमेश्वर की भाति अच्छा और सद्‌गुणी क्यों नहीं है। ऐसी सुन्दर पहचान को खोकर विदेशी जूठन के रूप में मिली गालियों से नयी पहचान खोजना, क्या उचित है?

पुनर्जन्म तथा आवागमनः- (जीवन एक यात्रा है) आत्मा को अमर मानते हुए उसके पुनः-पुनः योग माया से प्रकट होने की बात सभी श्रुतियों में तथा श्रीमदभगवतगीता में आयी है। जीव के पुनर्जन्म की बात भी व्यापक रूप से आदि-कालीन ग्रंथो से मिलती है। प्रकृति को यदि मूल धर्म ग्रंथ के

रूप में स्वीकार किया जाये तो पुनर्जन्म की कल्पना स्वयं सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भौतिक दृश्य, प्रकृति, वृक्ष वनस्पति जीव सचराचर सभी मृत्यु के उपरान्त पुनः नये रूप में निरन्तर जीवन के आवागमन के चक्र से लौट रहे है। यदि पुनर्जन्म नहीं होता तो प्रकृति का स्वरूप कुछ और ही हो जायेगा।

एक सम्पूर्ण सचराचर प्रकृति यात्री के समान है। जीवन एक यात्रा है तथा हम सब यात्री है। गति ही जीवन है तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, प्रकृति इसी नियम के अनुकूल आचरण करती है। जब हम सब इसी ब्रह्माण्ड के अंग है तो हम सब इसी सत्य से जुड़े है। ग्रहो एवं नक्षत्रों की भांति ही शरीर के नाना अवयव रक्त के कण, शिराये, कोश सभी निरन्तर परिक्रमाओं को प्राप्त है। परिक्रमा ही जीवन का सूत्र है। पृथ्वी के साथ हम भी सूर्यदेव की परिक्रमा कर रहे है। सभी ग्रह, ग्रह नक्षत्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परिक्रमाओं को प्राप्त है। यही जीवन परिक्रमा हमारे शरीर में निरन्तर गतिमान रहती है। जीवन का प्रत्येक क्षण परिक्रमा से ही हमें प्राप्त होता है।

गति ही जीवन है तथा ठहराव मृत्यु। हमारे जीवन की राह भीतर जाती है। आत्मा द्वैत, आत्मा से मिलकर एक हो जाना, ही मोक्ष का इकलौता मार्ग है, पूर्ण काम होने के लिए आत्मा को मात्र इच्छा बना लेना चाहिए। आत्मा ईश्वर में पूर्ण समर्पण, ही मोक्ष का एक मात्र मार्ग। बार-बार आत्म-योग में स्थित होने को ही ग्रन्थों ने मोक्ष की राह माना है। आत्मा में अभेद ही नही पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति है। जीवात्मा का आत्मा पूर्ण से वरण ही सत्य है। ब्रह्म को जिसने जाना वह ब्रह्म रूप ही हो गया। ब्रह्म सूत्र स्व प्रेरणा के सूत्र है। अहं ब्रह्मास्मि का उदघोष भी ब्रह्म की अभेद अवस्था को पाना है। जो भी महापुरूष परंब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर उसके साथ अनुभव करता हुआ ही ब्रह्म-भाव से ऐसा कह सकता है। हमारी पहचान आत्मा ही है। जीवात्मा के रूप से हम आत्मा ईश्वर से प्रकट हो रहे है, हमारा अन्त भी आत्मा में होना चाहिए, तभी अनंन्त अमरता का मार्ग मिलेगा। आत्मा का वस्त्र ही हमारा कवच है। देवयान, आत्मा, के हमारा अन्त भी आत्मा होना चाहिए।

आत्म-सूत्र

(1) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।1.1.1।।

आरम्भ करें आत्म जिज्ञासा ।

अथ-अब, आरम्भ, अतः- यहाँ से, अतएव, ब्रह्मजिज्ञासा- आत्म जिज्ञासा, ब्रह्म उत्कंठा।"प्यास"

आयें आरम्भ करें ब्रह्म (आत्म) जिज्ञासा। आत्मा के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा करें। आदिकालीन गुरूकुल शिक्षा का प्रथम सूत्र भी "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" ही रहा है। मन्दिर मूर्ति तथा पुजारी के रूप में, शरीर, आत्मा तथा जीव का परिचय कराया जाता था। हम न तो शरीर ही हैं और न ही पूर्ण रूप से आत्मा-हम जीवात्मा है।

(2) जन्माद्यस्य यतः ।।1.1.2।।

जीवात्मा का स्वरूप ज्योति का है। आत्मा में विलय ही मोक्ष है।

जन्मादि- जन्म आदि, अस्य- ऐसे, यतः जिससे

जन्मादि (आवागमन) सचराचर सम्भव होता जिससे बह ब्रह्म ही है जिससे सम्पूर्ण सचराचर निरन्तर प्रकट होता है जिसमें सम्पूर्ण सचराचर लय होता है तथा जो सम्पूर्ण सचराचर को धारण करता है। ब्रह्म (आत्मा) के कारण ही जन्म-दर-जन्म हम उत्पन्न होते हैं।

ॐ ऋतंञ्च सत्यञ्चाभीद्वातपसोऽध्यजायत ततो रात्रयजायत ततः समुद्रो अर्णव।

समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत अहोरात्रार्णि विधाद्विश्वस्य मिषतो वशी।

सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्

दिवञ्च पृथ्वीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः।।

(ऋगवेद 18 18 148।।)

ब्रह्म ने प्रकृति को प्रणय पाश में बाँध लिया। उनके निरन्तर प्रणय से क्षीर सागर जलादि प्रकट हुए। क्षीरसागर (अन्तरिक्ष, आकाश) में ग्रह,

सूर्य नक्षत्रादि ब्रह्म के द्वारा प्रकट हुए, वे परिभ्रमण, परिक्रमाओं को प्राप्त होने लगे जिससे दिन-रात्रि तथा संवत्सर (वर्ष) प्रकट होने लगे। परिक्रमाओं के आधार पर ही युग, कल्पादि भी प्रकट हुए, सम्पूर्ण सचराचर जीवन्त हो उठा। फिर :-

"एवा ह्यस्य सूनृतां विरप्शी गोमती मही।
पक्वाशाखा न दाशुषे"।।

(ऋगवेद 1 18 18)

इस प्रकार मंगल यज्ञों को धारण करने वाला आत्मा प्रकट हुआ प्रकृति उत्पन्न हुई। पेड़-पौधों का जन्म हुआ। जड़ं प्रकृति का पेड़-पौधों के गर्भ में आत्मा से मिलन हुआ तो अन्न, फलादि बने। मानव अंगो की कल्पना वृक्षों की शाखाओं पर पके फल बनकर लहलहा उठी।

" यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते।
उर्वीरापो न काकुदः"।।

(ऋगवेद 1 18 17)

ब्रह्म ने देहधारियों के गर्भ में यज्ञों के द्वारा, अन्नादि को यथा स्वरूपों में सन्ततियों में प्रकट करना आरम्भ कर दिया।

"अहमात्मा गुडाकेष सर्वभूताशयस्थितः
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च"।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 10 120।।)

हे अर्जुन**!** मैं सब जीवों के हृदय 'केन्द्र' सात आवरण पार सनातन में स्थित, सबका आत्मा (ब्रह्म) हूँ, तथा उनका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

इसे विस्तार से ऐसे समझे कि एक हलवाई नें लड्डू बनाए। आठ दस बर्तनों का प्रयोग करके हलवाई लड्डू बनाता है। एक बर्तन में बेसन घोलता है, दूसरे में शीरा बनाता है, एक कड़ाह में घी गरम करता है। इस प्रकार हलवाई बर्तनों के प्रयोग से लड्डू बनाता है। प्रश्न उठता है कि किस बर्तन ने लड्डू बनाये? उत्तर एक ही सत्य होगा कि लड्डू बर्तनों ने नहीं बनाए, लड्डू तो हलवाई ने बनाए हैं। बर्तनों के संयोग से लड्डू बनाये है। बर्तन स्वयं लड्डू नहीं बना सकते।

इसी प्रकार, ब्रह्म (आत्मा) रूपी हलवाई ने हमें पेड़-पौधों रूपी बर्तनों के संयोग से भस्मी (मिट्टी) जल से अन्नादि में उत्पन्न किया। तदुपरान्त ब्रह्म (आत्मा) हलवाई ने हमें माता-पिता रूपी बर्तनों में, पात्रों के संयोग से शिशु रूप में उत्पन्न किया। माता-पिता शरीर का कोई अंग एक कोश भी बनाना नहीं जानते हैं, फिर उन्होंने बालक कैसा बनाया? ब्रह्म (आत्मा) ही उत्पत्ति का मूल है। जीवन ब्रह्म द्वारा ही संभव है।

(3) शास्त्रयोनित्वात् ।।1.1.3।।

आदेश द्वारा उत्पत्ति पाता सचराचर

शास्त्र-आदेश, शास्त्रों, श्रुतियों। योनि- उत्पत्ति, योनियों, जीवन, आधार। वात्- फूंकना, प्राणवान हो जाना।

जिसके आदेश द्वारा (इच्छा द्वारा) जीवन्त हो उठता है सचराचर, ऐसे ब्रह्म की जिज्ञासा करें। सम्पूर्ण शास्त्रों में आत्मा (ब्रह्म) को ही योनियों (जीवन) का मूल कारण तथा कर्ता व भर्ता माना है। ब्रह्म ही सृष्टि का मूल है तथा वही कारण है, इसलिए ब्रह्म (आत्मा) को जानने की जिज्ञासा करें।

(4) तत्तु समन्वयात् ।।1.1.4।।

तथा व्याप्त होता उसमें।

तत्- ऐसे, इस प्रकार। तु- में। ऐसे आत्मा में। समन्वयात- जो सम भाव से सचराचर में स्थित होकर, समान रूप से सबको जन्मता, धारण एवं पालन कर्ता व मृत्यु दाता है तथा पुनः जन्म प्रदान करने वाला विधाता है, ऐसे ब्रह्म में समभाव से व्याप्त हो जाये।

हमारे जीवन कीराह भीतर जाती है। जिससे हमारा जन्म है, उत्पत्ति है तो फिर हमारा अन्त भी उसी में होना चाहिए। वेद ब्रह्मसूत्र आदि विज्ञान हैं। ये ऐसी कोई भी बात नहीं कहते हैं जो तर्कों तथा प्रमाणों द्वारा सिद्ध न हो।

(5) ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।1.1.5।।

ईक्ष- ईख, गन्ना, गन्ने का रस (का स्वाद), न - नहीं बता सकता। अशब्दम्-

गूंगा, जिव्हा, शब्द से हीन।

जिस प्रकार गन्ने की रस की व्याख्या गूंगा नही कर सकता है, उसी प्रकार ब्रह्म (आत्मा) की व्याख्या इन्द्रियों द्वारा संभव नहीं है। उसे सिर्फ अंतर में अनुभूत किया जा सकता है। इसीलिए इसे गूंगे का गुड़ भी कहा जाता है। (आत्म ज्ञान गूंगे का गुड़ है)

(6) गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।।1.1.6।।

गौण- चेन् (चेत्) नात्म - न+आत्म- अनात्म, शब्दात्। गौणः उपरान्त, अनावश्यक, महत्वहीन। चेत्- ग्रहण करना, चेतन्य होना, विचार करना। अनात्म- आत्मा से हीन, भौतिक जगत, वाह्य आडम्बर, दिखावा, भौतिक धनादि अतृप्तियाँ एवं तथाकथित उपलब्धियाँ, वाह्य दिखावा, पूजा, यज्ञादिक आडम्बर। शब्दात्- विचार, कथन, आदि।

सत्य तो मात्र ब्रह्म (आत्मा) है बाकी सचराचर आदि सब गौण (महत्वहीन) है, आत्मा के उपरान्त हैं सत्य आत्मा को जानने व समझने वाले जानते है कि वाह्य जीवन मात्र नाटक की औपचारिकता है, जीवन का सत्य आत्मा से जुड़कर जीना है।

(7) तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।।1.1.7।।

तन-तत्-ऐसे ही ब्रह्म आत्मा में। निष्ठस्य- निष्ठा सहित स्थित होकर। मोक्षः आवागमन से मुक्ति, नित्य अवस्था। उपदेशात्- ऐसा कहा गया है, उपदेशित हुआ है।

ऐसा कहा गया है, उपदेशित हुआ है कि ब्रह्म आत्मा में निष्ठा सहित स्थित होकर नित्य अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त हो।

(8) हेयत्वा वचनाच्च ।।1.1.8।।

हेयत-गौण, त्याज्य, निकृष्ट, भौतिकता एवं विलास की वृत्तियों तथा कामनाओं को। व- तथा वचनाच्च- वचनाच + च - संकल्प, मन, वचन, क्रम (कर्म) से त्यागते हुए, आत्म मार्ग के मार्ग को प्रशस्त करें।

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'- चलें भीतर चलें! खोज डालें! हे जीव!

निष्ठा पूर्वक आत्मा में स्थित होने से ही मोक्ष होता है। भौतिक एंव विलास वृत्तियों तथा कामनाओं के संकल्प को मन वचन से क्रमशः त्यागते हुए, आत्म-मार्ग में प्रशस्त हों।

(9) स्वाप्ययात् ।।1.1.9।।

स्व- आत्मा, स्वाप्ययात्- आत्मा से अद्वैत होकर ही मोक्ष प्राप्ति होना सिद्ध हुआ है। अन्य कारण उपदेश हेय अर्थात सत्य से परे हैं।

'स्व' (आत्मा) में ही आप्लावित होना, घुलमिल जाना, आत्मस्थ होकर जीना ही जीवन का उद्‌देश्य है। आत्मा ही देवयान है इसे ही पुष्पक विमान भी कहते हैं। जो आमस्थ होकर जीते हैं वही अन्तिम समय में शरीर त्याग कर देवयान से स्वर्गलोक को जाते है।

(10) गति सामान्यात् ।।1.1.10।।

गति- मोक्ष, सदगति, अमरगति। सामान्यात् - समान भाव से सभी श्रुतियों, वेदों, ऋषियों, ब्रह्म ज्ञानियों ने मानी है। आत्माद्वैत (आत्मा से अद्वैत) ही इकलौता मार्ग है, मोक्ष गति को पाने के लिए।

समान रूप से सभी ग्रंथों, श्रुतियों, ऋषियों, मुनियों, ब्रह्म-ज्ञानियों ने कहा है कि मोक्ष की गति आत्मा से जुड़ने पर ही मिलती है।

(11) श्रुतत्वाच्च ।।1.1.11।।

श्रुतत्वाच्च- सम्पूर्ण श्रुतियों एवं धर्म सनातन ने आत्मा-योग को ही राह बताया है, सब श्रुतियों का यही वचन अर्थात भाव है।

सभी ग्रंथों, श्रुतियों आदि का यही मत (वचन) है कि आत्मा में स्थिर होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सारे सद्‌ग्रथं, एवं श्रुतियों ने आत्मा को ही मोक्ष का द्वार माना है।

(12) आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।1.1.12।।

आनन्दमयाः - परमानन्दित, आत्मा के आनन्द में डूबे हुये। अभ्यासात् - ऐसे

अभ्यास निरन्तर करना ही आत्माद्वैत अर्थात मोक्ष मार्ग है। ईर्ष्या, द्वेष, लिप्सा, क्रोध, मोह, प्रतिशोध, आसक्तियों के अभ्यास नरक के द्वार हैं। आत्मा में परमानन्दित मार्ग ही मोक्ष परक है।

"आनन्दमयाः" आत्मा के आनन्द में डूबे हुए, "अभ्यासात", ऐसा अभ्यास निरन्तर करना ही मोक्ष का द्वार हैं आत्मा के आनन्द में ही जीने का अभ्यास करना मोक्ष ही राह है।

(13) विकारशब्दान्नेति चेन्नः प्राचुर्यात ।।1.1.13।।

विकार- भटकाव, असत्य। शब्दात्- शब्द है। जो पूर्व में कहा है। (आनन्दमयोऽभ्यासत्) ऐसा शब्द। इति- इस भान्ति। न- नहीं। प्राचुर्यात- व्यापक रूप से है, सही नहीं है। आत्मस्थ निमित्त जीवन, आत्मा के आनन्द में व्याप्त ही सत्य है।

भावार्थ यह है कि "प्राचुर्यात", प्रचुर मात्रा में, व्यापक रूप से लोग यह मानते है कि सिर्फ आत्मा के आनन्द में जीना भी एक प्रकार का विकार है, इससे संसार नहीं चलता है, ऐसा सोचना ठीक नहीं है, यह सत्य नहीं है। (आत्मा के सुख से बड़ा सुख इस धरती पर नहीं है) आत्मा ही हमें धारण किये हुए है, अतः आत्मा से जुड़कर जीना ही धर्म की राह है। आत्मा की राह ही धर्म की राह है। **"धारयती इति धर्म"** जो हमें धारण किये हुए है वही धर्म है, इस प्रकार ही हमारे जीवन का आधार है, वही हमें प्रत्येक पल जीवन का दे रहा है। जीव और आत्मा में भेद नहीं समझना चाहिए, जैसे हमारी दो जंघाएँ (पैर) दो होते हुए भी एक ही हैं, क्योंकि दोनों पैर दो विपरीत दिशा में एक साथ नहीं जा सकते हैं, उसी प्रकार जीव और आत्मा दो होते हुए भी एक साथ ही जीते हैं।

(14) तद्धेतुव्यपदेशच्च ।।1.1.14।।

तत्-ऐसे (आनन्दमय ब्रह्म), धेतवः - धारण करने योग्य, सबका धाता, विधाता।

उपदेशात् - उपदेशित हुआ है। सभी धर्म ग्रन्थों ने आत्मा के आनन्द को ही सत्स माना है।

च - तथा आत्माद्वैत आत्माद्वैत (आत्मा में मिलकर एक हो जाना) ही मोक्ष का इकलौता मार्ग है।

भावार्थ यह है कि जो आत्मा हमें धारण करता है, हर पल हमें सांस, धड़कनों से जीवन दे रहा है, हमारे जूठे भोजन को प्रेम के साथ ग्रहण कर रक्त, मॉँस आदि में निरन्तर बदल कर हमें जीवित रख रहा है, ऐसे में हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम भी पूर्ण समर्पण के साथा आत्मा को ह्दय से डूब कर प्यार करें। अपने ह्दय को सदा मथते रहना चाहिए ताकि सत्य का बीज हमारे भीतर उत्पन्न हो, "आनन्दमयोऽभ्यासात्" पूर्व में उपदेशित शब्द, आत्मा के आनन्द में ही जीने का अभ्यास करना चाहिए।

(15) मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।।1.1.15।।

मान्त्रवर्णिकम्- सभी मंत्रों में नियमित रूप से निरन्तर। एव- ऐसा ही, च-तथा। ब्रह्म (आत्मा) ही मात्र मार्ग है। गीयते - ग्रहण किया गया है।

भावार्थ यह है कि समस्त मंत्रों का यही भाव है कि हम पूर्ण रूप से आत्मा में ही स्थित होकर जीयें, आत्माद्वैत ही मार्ग है तथा आत्मा आनन्द ही जीवन की उपलब्धि है।

(16) नेतरोऽनुपपत्तेः ।।1.1.16।।

न - नही। इतर - इससे हटके। अनुपपत्ते- मोक्ष का कोई अनुपम मार्ग।

जैसा कि पूर्व सूत्रों में आया है "आनन्दमयोऽभ्यासात्", आत्मा आनन्द में पूर्ण रूप से समर्पित होने का अभ्यास करना ही मोक्ष की एक मात्र मार्ग है। आत्मा ईश्वर में पूर्ण समर्पण ही मोक्ष आत्मा की एक मात्र राह है। इसी को आगे परिभाषित करते हुए कहा है-नेतरोऽपुपपत्तेः। आत्मा से हटकर या कटकर जीना सत्य को नकारना है।

सत्य हम सबके भीतर बैठा है। "कस्तूरी कुण्डली बसे मृग ढूढें बन माही"। अन्तरात्मा के सत्य के साक्षात्कार के लिए हमें अन्तर्मुखी होकर वाह्य जगत से विरक्त अपने अंतर के अमिट मौन में, गहन समाधि में जाकर स्वयं को खोजना पड़ेगा। यह, एक दुर्लभ तप है और यह तभी संभव

है जब हमारी बर्हिमुखी वृत्तियाँ रूक जाएँ।

धर्म व्यक्तिगत होता है तथा हर व्यक्ति को अपना सत्य स्वयं खोजना पड़ता है। सन्त, महात्मा, गुरूजन हमें राह तो दिखा सकते हैं, परन्तु चलना स्वयं ही होता है।

(17) भेदव्यपदेशाच्च ।।1.1.17।।

जीव एवं आत्मा के भेद को स्पष्ट करते हुए ही "आनन्दमयोऽभ्यासात्",का उपदेश हुआ है। आनन्द आत्मा का ही रूप है। जीव को स्वयं में आनन्द नहीं है। इस भेद को समझते हुए आत्मा के आनन्द में ही जीव को रहना चाहिये तथा वाह्य जगत में निमित्त आत्मभाव से निमित्त कर्म करना ही सत्य रूप में तप एवं मोक्ष का मार्ग है।

जीव और आत्मा के भेद को जानकर ही हम, आनन्द क्या है? और कहाँ है? इस रहस्य को जान पायेंगे। जैसा कि पूर्व सूत्रों में आया है, "आनन्दमयोऽभ्यासात्", का अर्थ है कि **आनन्द आत्मा का ही रूप है,** जीव स्वयं में आनन्द नहीं है। वाह्य जगत के सारे आनन्द भ्रम मात्र ही है। स्थूल इन्द्रियॉ आत्मा के आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र है। जिस प्रकार जब मोर के हृदय में आनन्द की हिलोर उठती है तो वह नाचनें लगता है। यहॉ नाचना आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र है। आत्मा के ही आनन्द को विषयी व्यक्ति विषयों में, दभी दंभ में तथा तपस्वी तप में अनुभव करते है। सत्य से परे सत्य को खोजना सबसे बड़ा असत्य है।

(18) कामाच्च नानुमानापेक्षा ।।1.1.18।।

कामाच्च न अनुमान अपेक्षा

कामाच्च- कामनाओं इत्यादि। न- नही। अनुमान- मूल्यांकनं अपेक्षा- न ही अपेक्षा आत्मा से अन्यत्र हो सकती है। आत्मा ही पूर्णकाम तथा परमानन्द है।

कामनाओं का कोई अनुमान नहीं है और न ही अपेक्षा। यह सूत्र सभी के लिए है। कामनाओं और इच्छाओं का कोई अनुमान नहीं है। और इनकी अपेक्षाओं से हटना भी आसान नहीं है। पूर्णकाम होने के लिए आत्मा

को ही मात्र इच्छा बना लेना चाहिये। आत्मा की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए समस्त कामनाओं और इच्छाओं को आत्मा में अर्पित कर 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आत्मा के आनन्द का अनुभव करना ही जीवन की राह है।

इच्छा करके कर्म करना पाप है। आत्मा के निमित्त होकर कर्म करने से ही ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त होती है। इस प्रकार बारम्बार आत्मा में योग कर उसी में स्थित होने का प्रयास ही मोक्ष का मार्ग है। ऐसा सम्पूर्ण श्रुतियों, स्मृतियों तथा धर्म ग्रन्थों ने माना है। बदले की भावना से किया गया कर्म हमें ईश्वर से दूर कर देता है।

(19) अस्मिन्नस्य च तद्योगं शस्ति ।।1.1.19।।

अस्मिन, अस्य, च, तद्, योगम्, शास्ति

यूँ ऐसे तथा बारम्बार आत्मा में योग स्थित होने को ही मोक्ष का मार्ग सम्पूर्ण श्रुतियों, स्मृतियों तथा धर्म ग्रन्थों ने माना है। आत्मा में नित्य स्थित होना ही सत्य है। सबकी राह भीतर आत्मा में जाती है। आत्मा से जुड़ जाना ही शास्त्रों का उद्देश्य है।

(20) अन्तस्तद्धर्मोपेदेशात् ।।1.1.20।।

अन्तस्तः (अन्तर्स्थित), धर्मा, उपदेशात्

अन्तस्तः अन्तर्स्थित, धर्माः- धर्म है।, उपदेशात्- उपदेशित हुआ है।

आत्मा में स्थित होना, आत्मा के आनन्द को ही सर्वस्व मानकर, आत्म-स्थित, आत्म-निमित्त होकर जीना ही वेदोक्त सनातन धर्म है। ऐसा ही उपदेश सभी धर्म ग्रन्थों में हुआ है। अन्तर में स्थापित होना, आत्मस्थ होना ही सभी धर्मो में उपदेशित हुआ है।

(21) भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।।1.1.21।।

भेद आदि का उपदेश जो अन्यत्र हुआ है वह भी समझना चाहिए। जीव और आत्मा का भेद तथा शरीर से जीव का भेद भी समझना चाहिए।

जीव और आत्मा के भेद को योग द्वारा अद्वैत करना, भेद को मिटाकर एकात्म होना परम लक्ष्य है। भेद के मार्ग से उपराम होना तथा आत्मा से अभेद होना ही पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति है। भेद क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भेद इसलिए है कि आत्मा तो सम्यक रूप से सबमें व्याप्त है, परन्तु हम जीव आत्मा में व्याप्त (स्थित) नहीं है। इसलिए संसार में भेद दिखाई देता है। भेद का जो उपदेश अन्यत्र हुआ है उसे भी समझना चाहिए। जीव और आत्मा के भेद की योग द्वारा मिटा कर, भेद को मिटाकर अभेद होना हीहम सबके जीवन का परम् लक्ष्य होना चाहिए।

इसी तत्व को महाभारत लीला ग्रंथ में दिखाया गया है कि एक ही शरीर रूपी रथ पर जीवात्मा (अर्जुन) व आत्मा (कृष्ण) सवारी कर रहे है। शरीर रथ का संचालन आत्मा (कृष्ण) कर रहे हैं। इसी प्रकार हम भी जीव रूप से इस शरीर पर सवार हैं, परन्तु इस शरीर के एक कोश का भी निर्माण का ज्ञान हमें नहीं है। इस शरीर को सांस धड़कनों आदि से आत्मा ही जीवित रखता है वही भोजन का रक्त, माँस आदि कोशों में परिवर्तित कर इस शरीर रथ का संचालन करता है जैसे महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ का किया था।

भेद जगत संसार है। अभेद होना इसकी परिणति हैं। जिस प्रकार महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण ने शस्त्र नहीं उठाया था उसी प्रकार भेद जगत की मायाओं से जीव रूपी अर्जुन को स्वयं ही युद्ध करना होता है, इसी माया महासमर को महाभारत कहते हैं जिसे प्रत्येक जीव को लड़ना पड़ता है। महाभारत प्रत्येक प्राणी की कथा है।

(22) आकाशस्तल्लिंगात् ।।1.1.22।।

जीव की उत्पत्ति तथा स्थाप्य आकाश ही है। शरीर, माया में आकाश को स्थापित करने की व्यवस्था, जीव के लिए, आत्मा द्वारा बनाया गया एवं संचालित, रक्षित जीवन्त घर है। अतः योग जीव का आत्मा से है न कि शरीर और जीव से योग की चर्चा है। शरीर रूपी जीवन्त घर में जीव एवं आत्मा का योग द्वारा अभेद, अद्वैत एक होना ही जीवन का लक्ष्य है।

जीव की उत्पत्ति आकाश (क्षीरसागर) में होती है। आकाश के

बिना पृथ्वी (ग्रहों) की माया (गुरूत्वाकर्षण) में जीव नहीं रह सकता है। आकाश को स्थापित करने के लिए ही शरीर की रचना, आत्मा, जीव के लिये करता है। माया क्षेत्र में जीव शरीर में स्थित आकाश के सहारे रहता है। क्षीरसागर, आकाश (माया रहित क्षेत्र) में जीव पंच भौतिक शरीर के बिना अपने मूल तेजस रूप में रहता है जो कि उसकी स्वाभाविक स्थिति हैं, उसका निज धाम है। जीवन और जल की उत्पत्ति आकाश (क्षीरसागर) में ही होती है।

(23) अत एव प्राणः ।।1.1.23।।

अत एव आकाश ही प्राणों का मूल है। जीवात्मा आकाश में रहता हुआ ही प्राण पल्लवित होता है। माया (गुरूत्वाकर्षण) में शरीर ही आकाश की व्यवस्था है। आकाश ही महा विष्णु का रूप है तथा उनके नाभिकमल अर्थात आकाश (क्षीरसागर) का जो मध्य बिन्दु है वहाँ ब्रह्मा जी का वास है तथा समस्त जीवों, सचराचर की उत्पत्ति का स्थान है।

शरीर की व्यवस्था माया क्षेत्र (गुरूत्वाकर्षण) में प्राणों को रखने के लिए बनाई गई है। जैसे बैटरी का सेल जब ऊर्जा से रहित हो जाता है तो हम कहते है कि सेल खत्म हो गया है। एक दूसरे प्रकार का भी सेल होतां जिसे दोबारा चार्ज किया जा सकता है। शरीर भी एक एक रीचार्ज होने वाला सेल है, एक सीमित अवधि तक। शरीर निरन्तर मायाओं (गुरूत्वाकर्षण) के प्रभाव से लड़ता रहता है जिससे शरीर में स्थित आकाश (क्षीरसागर) बना रहे जीव के रहने के लिए। आत्मा हमें कैसे जीवित रखता है? इसका ज्ञान हमें नहीं है। शरीर के प्रत्येक कोश की आयु सीमित है। अमर आत्मा शरीर में निरन्तर नए कोशों (सेल) का निर्माण न करे तो हम सब मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ।

(24) ज्योतिश्चरणभिधानात् ।।1.1.24।।

ज्योति - आत्म ज्योति। चरण - मार्ग, ध्यान, राह। अभिधानात् - उपमा, सम्मान, पहचान प्रतिष्ठा है।

आत्म ज्योति में चरणबद्ध निरन्तर व्याप्त होते रहना, ज्योति को

ही जीवन का तप राह पहचान मानकर आत्म निमित्त आत्मस्थ योग द्वारा आकाश में स्थापित अपनी पहचान प्रतिष्ठा को प्राप्त होना, मानव जीवन का मात्र उद्देश्य है।

आत्म ज्योति में चरणबद्ध निरन्तर व्याप्त होते रहना, ज्योति को ही जीवन का तप राह पहचान प्रतिष्ठा को प्राप्त होना, मानव जीवन का मात्र उद्देश्य है।

जीवात्मा का स्वरूप ज्योति का है और ज्योति में ही व्याप्त हो जाना, लय हो जाना ही जीवात्मा का आत्मा में लय हो जाना है। जीव ज्योति का, अनन्त ज्योति आत्मा में विलय ही मोक्षहै।

(25) छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्नः तथा चेतोऽर्पण निगदातथाहि दर्शनम् ।।1.1.25।।

छन्दाः, अभि, धा, नाः, नेति, च, नः, तथा चेतः, अर्पण, निगदाताः, दर्शनम्।

छन्दाः - जीवन एवं मृत्यु, विष और अमर होना, गायत्री छन्द।

अभिः - व्याप्त, सम्मुख होते। ध- धारण।

नाः - हम सब। नेति (न इति) - बारम्बार। तथा - तथा। चेतः - चैतन्यता पाते।

अर्पण - यज्ञार्पण होकर। निगदातः - व्याख्यानोपख्यान, वाद-विवाद, उपदेश, कथोपकथन।

हि - अन्तरव्याप्त होना ही। दर्शनम् - आत्म-दर्शन की अध्यात्म का सत्य मार्ग है।

आत्म-दर्शन ही अध्यात्म का सत्य मार्ग है। ईश्वर का दर्शन अपनी आत्मा में ही होताहै। आत्म ज्वालाओं में जिस प्रकार मरी हुई मिट्टी यज्ञ होकर पुनः जीवन्त होकर हम जैसे स्वरूपों में लौट रही है पाप और प्रायश्चित से मुक्त होकर, तो हे! मन हमारे आओं उसी आत्म-यज्ञ में समाधिस्य होकर उसी में व्याप्त हो जायें। जीवन-मृत्यु , विष-अमृत के सम्मुख होते हम सब बारम्बार

उसी से चैतन्यता प्राप्त करते हैं।

(26) भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।।1.1.26।।

भूत, आदि,पादः, उपदेश, उपपत्तेः, च, एवम्।

भूत - जीव, भूत प्राणि। आदि - इत्यादि। पादः - प्रगट, चरण, उत्पन्न हुए। उपदेशः ऐसा सभी वेदादिक ग्रंथो में उपदेशित हुआ। उपपत्तेः- जीव ब्रह्म की ही उत्पत्ति है। ब्रह्म की ही प्रकट सन्तति है। च - तथा। एवम् - इसी भाँति सभी उपग्रंथो, तथा आख्याओं, उपदेशों, में ग्रहण किया गया है। ब्रह्म ही सचराचर का जनक तथा जीवमात्र का सत्य परिचय है।

समस्त जीव भूतादिक, उत्पन्न होने वाले जीव, यह संज्ञा ब्रह्म से है। जीव की उत्पत्ति, पहचान आदि ब्रह्म से है। जीव ब्रह्म की मानस सृस्टि है। शरीर की उत्पत्ति भी ब्रह्म के ही द्वारा है। ऐसा उपदेश सभी वेदाकि ग्रंथों में हुआ है।

(27) उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।।1.1.27।।

अन्य स्थान पर भेद के उपदेश जो नाना प्रकार से हुए हैं, उसमें भाव का भेद कदापि नहीं है। व्यवहार बर्ताव आदि के हित में उपदेश को विरोध नही समझना चाहिए। यथा- **"एकोऽब्रह्म द्वितीयोऽनास्ति", ब्रह्म अर्थात आत्मा ही सम्यक भाव से सचराचर का जनक है।** परन्तु व्यवहार जगत, उपदेश में, पुरूष, स्त्री, पशु, पक्षी, पौधे, अन्य जीवधारी तथा मातृधर्म, पितृधर्म, पुत्र, पौत्रदिक धर्म आदि में भेद को विरोध नहीं समझना चाहिए।

भाव बदल जाने के कारण आध्यात्मिक ग्रन्थों के अर्थ भी बदल गए हैं। जगत भाव प्रधान है। जब हमारा भाव अन्तर्मुखी होता है तो आत्मा से जुड़कर भक्ति बढ़ाता है। भाव जब बहिर्मुखी होता है तो भौतिक अतृप्तियों में भटकता है। भौतिकताओं को प्राथमिकता देकर भक्ति नहीं होती है।

बहिर्मुखी भाव और मनोवृत्तियों के कारण हम स्वयं को नहीं जान पाते हैं।

हमारी पहचान हमारी आत्मा में है। हमारा उद्गम आकाश (क्षीरसागर) से है। अन्यत्र जो भेद जगत को सामने रखकर उपदेश किए

गए हैं, वह स्थिति भेद है, उन्हे विरोध के रूप में नहीं लेना चाहिए।

वाह्य जगत एक निमित्त जगत है, आत्म-जगत में प्रवेश का पूर्वाभ्यास है। एक ही आत्मा सबमें है। परन्तु स्वयं को माँजने, धोने, मन को पवित्र करने के लिए व्यवहार जगत है।

(28) प्राणस्तथाऽनुगमात् ।।1.1.28।।

प्राणों को आत्मस्थ तथा (मन एवं प्राण सहित) आत्मा (ब्रह्म) का, निरन्तर अनुगमन करना एवं आत्मा निमित्त जीवन को आत्मवत् धारण करना ही धर्म का मार्ग (उपदेश) है।

ब्रह्म-सूत्र स्वप्रेरणा के सूत्र हैं। प्राणों को ब्रह्म (आत्मा) में स्थित करते हुए उसी का अनुगमन करना तथा स्वयं को आत्मा का निमित्त मानकर जीने से जीवन की हर राह एक तप के समान हो जाती है। यही धर्म का मार्ग है।

"अनुगमन", आत्मा की राह का अनुगमन उसमें निरन्तर आगे बढ़ते रहना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है। गति ही जीवन है तथा ठहराव मृत्यु। जल की धारा के समान जीवन निरन्तर गतिमान है। शरीर में श्वास-प्रश्वास, धड़कने निरन्तर आत्मा के द्वारा चलायी जा रही है। सभी ग्रह-नक्षत्र परिक्रमाओं में गतिमान हैं। वाह्य जगत की भोतिकताओं (मकान, दुकान आदि) में जीवन का स्थायित्व खोजना मृत्यु के समान है। श्री राम कथा में केवट जो बहती गंगा की धाराओं में स्वयं को खोजता है, वही श्री राम के असली मर्म को समझ पाता है।

(29) न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा हास्मिन् ।।1.1.29।।

न वक्तुः - नहीं कहा गया है। आत्मोपदेश - आत्मा के उपदेश। इति- इस भांति। चेत्- चैतन्य, ग्रहण किया गया, स्वीकार किया गया। अध्यात्म- आत्मस्थ, आत्मा के प्रति, आत्मनिमित्त। सम्बन्ध - संबंध, भाव, जुड़ाव,। भू- होना। मा- नकारते हुए। हय् - व्याप्त। अस्मिन - ऐसे।

अर्थात् भौतिक तथा अध्यात्म को अलग-अलग मानकर जीने को

अध्यात्म अथवा धर्म नही स्वीकार किया गया है। निमित्त आत्मस्थ सम्पूर्ण जीवन ही सत्य है।

ब्रह्म-सूत्र (वेदान्त सूत्र) में कोई भी ऐसी बात कभी नहीं गयी है जो कि हर ओर क्षण-भंगुर जगत में न घट रही हो। भौतिक (व्यवहार) जगत और आध्यात्म को अलग-अलग मानकर जीना धर्म में नहीं स्वीकार किया गया है। भौतिक जगत के भी सारे संबंधों का आधार आत्मा ही है, जो हमेंसहस्त्रों बार निम्न योनियों से पवित्र कर ऊपर उठाता है तथा जड़ता से चैतन्यता में लाता है, जीवन के क्षण देता है।

(30) शास्त्र दृष्टया तूपदेशो वामदेववत् ।।1.1.30।।

शास्त्रदृष्टया - शास्त्र सम्मत्, शास्त्रों की दृष्टि में आत्मा के वामांग ही जीवात्मा को उपदेशित किया गया है।

गायत्री मंत्र का मूल "तत्सवितुर्वरेण्यम्" का भाव भी यही है कि जीवात्मा का आत्मा (सूर्य) सविता से वरण ही सत्य है।

उस ब्रह्म को जिसने जाना वही ब्रह्मरूप हो गया। वामदेव आदि ऋषि ने जो **'अहं ब्रह्मास्मि'** महावाक्य का उद्घोष किया उसका भी अर्थ ब्रह्म की अभेद अवस्था को पाना है। जो भी महापुरूष परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है वह उसके साथ एकता का अनुभव करता हुआ ब्रह्मभाव से ऐसा कह सकता है।

(31) जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।।1.1.31।।

जीवात्मा मुख्य रूप से प्राण के रूप (नाम, पहचान) से चिन्हित (लिग्गान) होता है। इस प्रकार (इति) तथा (च) अन्य उपासना (अन्नोपास) त्रिविध साधना (त्रेविध्याश्रित्त) के आश्रित द्वारा (वा) तथा अपने में देह (त्वरित) इस प्रकार आत्मा से अद्वैत योग करना (तद, योगात्) यही अध्यात्म धर्म का मूल मंत्र है।

ब्रह्म ईश्वर के अनुसार जीवात्मा मुख्य रूप से प्राण के रूप (नाम, पहचान) से चिन्हित होती है। हमारी पहचान भौतिक शरीर नाम व रूप से

होती है, परन्तु यह भी सत्य है कि आत्मा से ही भौतिक (स्थूल) शरीर का अस्तित्व है। **इसी शरीर में स्थापित महाशून्य माया रहित क्षेत्र जहाँ गुरूत्वाकषर्ण का प्रवेश नहीं है। ऐसे महाशून्य को ही गर्भ कहा है, जो कि प्रत्येक जीवधारी में होता है। इसी गर्भ से जीवन प्रत्येक क्षण प्रकट हो रहा है।** जब जीवात्मा के रूप में हम आत्मा (ईश्वर) से ही प्रकट हो रहे हैं तो हमारी पहचान भी आत्मा से अलग कैसे हो सकती है और हमारा अन्त भी आत्मा में ही होना चाहिए तभी अनन्त अमरता (मोक्ष) का मार्ग मिलेगा।

इति श्री ब्रह्मसूत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय प्रथम पाद।

प्रथमाध्याये- द्वितीय पादः

(32) सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । ।1 ।2 ।1 । ।

सर्वत्र, प्रसिद्ध उपदेशात् ।

सर्वत्र सभी धर्मग्रंथों में, धर्माचार्यो ने समवेत स्वर से पूर्वोक्त प्रथम अध्याय के सभी सूत्रों में इसी (ब्रह्म) का उपदेश किया है।

हर ओर सर्वत्र यही उपदेश हुआ है कि आत्मा (ब्रह्म) ही प्रत्येक स्वरूप को प्रकट कर रहा है। यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म (आत्मा) से ही उत्पन्न हो रहा है। कोई भी व्यक्ति सत्य का आचरण तभी कर सकता है। जब वह सत्य को जानता भी हो। वाह्म जगत निमित्त जगत है, अन्तर जगत ही सत्य है।

सत्य को जानना ही अपने में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, और उस पर आचरण करना स्वयं में स्वर्ग का सुख है। जो सत्य की अमर राह पर नहीं हैं वह कभी अमर पद की प्राप्ति भी नहीं कर सकते है।

(33) विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । ।1 ।2 ।2 । ।

वि, वक्षित, गुणः, उपपत्तेः, च ।

विशिष्ट एवं व्यापक रूप से आलिंगनबद्ध है, गुण सम्पूर्ण आत्मा ब्रह्म से तथा आत्मा में व्याप्त है बीजरूप से।

सभी गुणों का जनक आत्मा ही है। इनका आत्म निमित्त प्रयोग ही धर्म है।

विशेष एवं व्यापक रूप से उस आत्मा के वक्ष (हृदय) से लिपटे हुए जीना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

(34) अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । ।1 ।2 ।3 । ।

अनुपपत्त - अनुसरण, व्याप्त। अस्तु - होना। न- नहीं। शारीरः - देहाभिमान में।

आत्मा के ही गुण धर्म को सर्वत्र मानना उसी का अनुसरण करना ही धर्म है। मात्र देह (शरीर) के हित ही में जीना, अनुचित एवं अधर्म है।

आत्मा का वस्त्र ही हमारा कवच है। जिनकी चेष्टाएँ, सोच मात्र शरीर तक ही सीमित हैं वे आत्मा को नहीं जान सकते हैं।

गुरूकुल से दो शिष्य शिक्षा पूरी कर निकले। गुरू ने कहा कि संसार में कांटे ही कांटे हैं सो तुम कैसे चलोगे? पहले शिष्य ने कहा कि झाड़ू से राह बहारूंगा। दूसरे ने कहा कि पादुका धारण कर लूँगा।

नकारात्मकता को महत्व नहीं चाहिए। **"जगत भी सत्य है वासुदेवमय है।"**

(35) कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।।1 ।2 ।4 ।।

कर्म - जीवन के सम्पूर्ण कर्म। कर्तृव्य- कर्त्तव्य आदि (सभी प्रकार के भौतिक, दैहिक, आध्यात्मिक आदि) उपदेशाच्च - इसी भाव में उपदेशित हुए है।

आत्म भाव से भी प्राकृतिक, भौतिक तथा आत्मिक कर्म एवं कर्त्तव्य का ही उपदेश हुआ है। आत्मा के विपरीत न तो कोई गृहस्थ, समाज अथवा राजधर्म है।

(36) शब्दविशेषात् ।।1 ।2 ।5 ।।

शब्द - सद्गंथों, ऋषियों की वाणी, सत्संग, उपदेश में। विशेषात् - इसे ही (पूर्वोक्त आत्म निमित्त कर्म) कहा गया है। आत्मा के निमित्त, आत्मा के तदरूप कर्म ही धर्म है।

ब्रह्मसूत्र तथा वेद की ऋचाओं तथा अन्य सद्ग्रंथों में यही उपदेशित हो रहा है कि हम सब **देवयान (आत्मा)** के द्वारा ही इस संसार में लाए गए हैं, इसलिए हमारा गमन भी **देवयान** के द्वारा ही हो। आत्मा की राह पर ही समस्त संत, ऋषि, देवतागण गए हैं, इसी का हमें भी अनुसरण करना चाहिए। वेद, ब्रह्मसूत्र हमारे भीतर की आँख खोलते हैं सनेत्र भक्ति कभी खण्डित नहीं होती है। ईश्वर के मार्ग में कोई पीड़ा, दुख आदि नहीं है।

(37) स्मृतेश्च ।।1 ।2 ।6 ।।

स्मृतेश्च - स्मृतियों ने भी उपरोक्त आत्मा निमित्त धर्म के विधान को ही अंगीकार किया है। आसक्त धर्म का सर्वथा निरोध किया गया है तथा इसे अधर्म कहा गया है।

जो आत्मा से जुड़ जाताहै, वही आत्म निमित्त धर्म को पाता है, यही स्मृतियों का कथन है।

वेद आदि सद्ग्रंथों का ज्ञान हमें अपने भीतर अपनी आत्मा में ठहरने का मार्ग देते है। भक्त की भावना के अनुरूप ही आत्मा रूप धारण करता है, यही **आत्म दर्शन** है। मन्दिर व मूर्तिपूजा का विधान मन को आत्मा के साथ जोड़ने के लिए किया गया था परन्तु कालान्तर में इसे चमत्कार एवं मनोकामना सिद्ध करने का साधन मान लिया गया जोकि दुर्भाग्यपूर्ण रहा और लोगों की आस्था मन्दिर व मूतियों में कम होने लगी। मूर्तिपूजा के द्वारा हम अपने मन के खालीपन को भर सकते हैं और मन के भटकाव से बच सकते हैं। मूर्तिपूजा एक महा मनोविज्ञान है।

जैसा मन होगा वैसा ही तन होगा। मन अगर स्वस्थ ईश्वर की भक्ति में रहेगा तो मन भी निरोग होगा। मूर्तिपूजा ही अंतरचक्षु (दिव्यनेत्र) को खोलने का मार्ग है। मूर्ति के रूप में भक्त अपने मन को बांधता है फिर मन को उसी रूप में बसा कर उसे अपनी आत्मा में उतारता है, यही आत्मा से अद्वैत की क्रिया है तथा योग का मार्ग है।

जो अपनी आत्मा से प्यार करता है, वही सचराचर को भी प्यार कर सकता है। आत्मा ही हमें जीवन का प्रत्येक क्षण दे रहा है। जिसने इस अतिशय कृपालु आत्मा को नही अपनाया उसने फिर संसार के किसी भी संबंध का निर्वाह नहीं किया है। स्मृतियों ने भी आत्म निमित्त धर्म के विधान को ही स्वीकार किया है।

(38) अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च।।1।2।7।।

सूक्ष्म, क्षीण (अर्भकौकस) है, वह ब्रह्म, ऐसे कहा गया (वा) तथा (तद्) इस भाँति उपदेशित हुआ (व्यपदेशाच्च) तथा (च), नहीं अन्त (नेति) न इति जिसका। तथा (च), नहीं (नः) हृदय में (निचाय्यत्वा), सूक्ष्म, व्याप्त, ईश्वर (देवम्) आकाश का सूर्य है। (व्योमवचः)

ब्रह्म को सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपदेशित किया गया है, जो हृदय में सूक्ष्म होकर विराजते हैं तथा आकाश के सूर्य भी वे ही हैं। वह ब्रह्म सूक्ष्म भी है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी उसमें समा जाते है और उसका विस्तार नहीं पाते।

वह परंब्रह्म तथा परंब्रह्मा है। परंब्रह्म (परम्= पूर्ण, व्याप्त। ब्रह्म - नन्हें सूक्ष्म बिन्दू में) परंब्रह्मा (परम्- पूर्ण व्याप्त होकर भी ब्रह्मा - ब्रह्माण्ड न पाते विस्तार जिसका)। पूर्ण परिचय के बाद ही हम किसी से अंतरंग मित्रता करते हैं, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने के बाद ही हम स्वयं को आत्मा (ईश्वर) में मिलाकर अद्वैत कर सकते है।

(39) सम्भोग प्राप्तिरिति चेन्नः, वैशेष्यात्।।1।2।8।।

सम्भोग प्राप्ति में ही सम्पूर्ण जीवन की इति (समापन) है ऐसा ही विशेष है, यह सत्य नहीं है। मानव जीवन इससे विलग आत्मभाव में व्याप्त होकर है। पशु तुल्य कृत्य-भोगो की प्राप्ति, भूख मैथुन, निद्रादि कर्म मानव जीवन की विशेषता अथवा उद्‌देश्य कदापि नहीं है।

मात्र विषय भोगों की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानना व उसी की प्राप्ति के लिए कर्म करना उचित नहीं है। इस तरह जीना, पशु से भी निकृष्ट जीना है। भोगों की प्राप्ति के लिये विशेष रूप से पशु भी प्रयास नहीं करते हैं, वह उन्हें स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं। मनुष्य होकर भी पशु तुल्य कृत्य-भोगों की प्राप्ति, भूख, मैथुन, निद्रादि कर्म मानव जीवन की विशेषता अथवा उद्‌देश्य कदापि नहीं है।

मनुष्य के यहाँ जन्म लेने मात्र से कोई मनुष्य नहीं हो जाता है मनुष्यत्व को प्राप्त करना ही मनुष्य योनि को सार्थक करना है। जो अपने

मूल उद्गम को नहीं जान पाते है, कि आत्मा (ब्रह्म) ही हमें उत्पन्न व पालन कर रहा है तथा स्वयं को सार्थक आत्मा से नही जोड़ पाते हैं, उनके लिए मनुष्य की योनि पीड़ाओं का घर है। जिसने स्वयं को जान लिया वही मनुष्य संसार में भी बैकुण्ठ सा सुखी रहेगा और अन्त में देवत्व को पाएगा।

ईश्वर की दया और कृपा का गलत अर्थ नहीं लेना चाहिए। हम जो भी कर्म करें ईश्वर (आत्मा) जो हमारे भीतर बैठा है प्रकट रूप से कुछ नहीं कहता तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने हमें कुछ भी करने की छूट दे दी है, ऐसा सोचना मूर्खता है। मनुष्य की योनि परीक्षा की योनि है, जहाँ आत्मा (ईश्वर) परीक्षक है जो हमें यह शरीर रूपी उत्तर-पुस्तिका तथा परिस्थितियों का प्रश्न पत्र देता है। जिस प्रकार परीक्षा में अगर हमें किसी प्रश्न का उत्तर नहीं आता है तो परीक्षक जो परीक्षा कक्ष में होता है हमें प्रश्न का उत्तर नहीं बताएगा परन्तु अन्त में परीक्षा का परिणाम तो आएगा ही।

उसी प्रकार मनुष्य योनि की जीवन रूपी परीक्षा में अगर हम अपनी आत्मा रूपी जड़ जो जीवन का सत्य है, उससे जुड़कर न जी पाए तो हमें फिर चौरासी लाख योनियॉ, जो जीवन रूपी पाठशाला की कक्षाएँ हैं, उनमें फिर से पढ़ने जाना होगा।

(40) अत्ता चराचर ग्रहणात्।।1।2।9।।

अत्ता - जगत माता, ब्रह्म-ज्वाला, यज्ञ परमेश्वर। चराचर ग्रहणात - सम्पूर्ण सचराचर को ग्रहण कर जीवन्त करने वाली है।

सृष्टि का मूल है। जगत जननी आत्म ज्वालायें ही सचराचर को अपने गर्भ में ग्रहण करके जीवन्त उत्पन्न करती है। ज्ञान के बिना भक्ति नहीं होती है, तथा स्वयं को जानना ही मनुष्य योनि का उद्देश्य है। **जीवन एक दहकता हुआ यज्ञकुण्ड है जो हमारे भीतर अन्तर में नित्य प्रज्वलित है। इस यज्ञकुण्ड को ही आत्मा कहते हैं, जिसकी ज्वालाओं की शक्ति से ही बुद्धि, विवेक, वाणी तथा शरीर में चैतन्यता बनी रहती है।** जीवन के कोलाहल में भी हमें सदैव उस आत्मा महान का स्मरण बनाये रखना चाहिए जो हमें मिट्टी से मनुष्य योनि में लाता है।

जीवन की मंजिल प्रत्येक को स्वयं तलाशनी होती है। जगत् जननी ब्रह्म-ज्वाला ही सम्पूर्ण सचराचर जगत को अपने गर्भ में ग्रहण कर जीवन्त करके उत्पन्न करती है। आत्म-ज्वाला अगर हम सबके भीतर प्रज्वलित न हो तो जीवन का अगला क्षण हमें नहीं मिलेगा।

सनातन धर्म में किसी काल्पनिक भगवान की कल्पना नहीं की गयी है। ईश्वर शब्द ऐश्वर्य से बना है, जिसका अर्थ है जो प्राणि मात्र को ऐश्वर्य दे, स्वयं को भुलाकर, उसे ईश्वर कहते है। ईश्वर कोई दंभ की उपाधि नही है, यह अतिशय विनम्रता का प्रतीक है जिसे पाना अति दुर्लभ है। संसार में रक्त, इन्द्रियोचित अथवा सामाजिक संबंधों को ही महत्व दिया जाता है, परन्तु **अध्यात्म जगत में सिर्फ भाव संबंध की ही मान्यता है तथा भाव वाला ही भक्ति पाता है।**

(41) प्रकरणाच्च ।।1 ।2 ।10 ।।

उपरोक्त पूर्व में बताये सूत्रों को धर्म ग्रंथों, श्रुतियों, वेदादिक ने प्रकरण के रूप में सर्वत्र दर्शाया है। आत्म यज्ञार्थ, आत्म सेवार्थ निमित्त कर्म ही मूल धर्म है।

सारे प्रकरणों, ब्रह्म ईश्वर, श्रुतियों तथा वेदों में जो कहा गया है, वही सत्य है। जिस प्रकार नारायण सबमें व्याप्त होकर सारे सचराचर को धारण करते हैं, हमें भी ईश्वर के निमित्त होकर संसार को धारण करना चाहिए। **सत्य रूप में सभी जीव का विवाह तो उसकी आत्मा से ही होता है।** आत्मस्थ धर्म यही है कि हम भी अपनी आत्मा श्री राम के सदृश्य बनकर जीयें।

(42) गुहां प्रविष्टावात्मानी हि तद्दर्शनात्।।1 ।2 ।11 ।।

गुहाम् - देह, हृदय। प्रविष्ट - प्रवेश पाकर। व - तथा। आत्मानी - आत्मा रूपी यज्ञ तथा ब्रह्म-ज्वाला रूपी माता यज्ञाग्नियो का। हि- अन्तर्व्याप्त। तद-इस भांति। दर्शनात् - दर्शन करें।

परमेश्वर का दर्शन शरीर के भीतर प्रवेश कर के आत्मा में करो।

शरीर रूपी गुहा के भीतर प्रवेश करके आत्मा में व्याप्त गुरू के दर्शन करों। आत्मा हमारा आराध्य है तथा आत्म ज्ञान ही हमारा गुरू है। जीव रूपी हम सब इस शरीर मन्दिर के पुजारी हैं। बाहर के असत्य, अज्ञान को बाहर ही जला कर, **निर्मल** होकर भीतर चलें जहॉ हमारा आराध्य आत्मा और आत्म ज्ञान गुरू हमारा इंतजार कर रहे हैं।

ईश्वर का दर्शन सभी करना चाहते है। जब ईश्वर आत्मा होकर हमारे भीतर बैठे हैं तो ईश्वर का दर्शन भी शरीर के भीतर आत्मा में ही होगा। आत्मा श्री कृष्ण के विराट रूप का दर्शन स्वयं अर्जुन भी साधारण नेत्रों से नहीं कर पाए थे। दिव्य चक्षु के द्वारा ही आत्मा श्री कृष्ण के दर्शन होते हैं। आध्यात्म के मार्ग में हमारे आत्म ज्ञान के रूप में देवगुरू वृहस्पति ही हमारे अंतर चक्षु (दिव्य नेत्र) को खोलने के अधिकारी हैं।

ईश्वर अगर दर्शन देने इस शरीर से बाहर आ गए तो फिर इस मृत शरीर के साधारण नेत्र किसका दर्शन करेंगे।

(43) विशेषणाच्च। ।1 ।2 ।12 ।।

विशेषण- ब्रह्म के नाम संज्ञा एवं (चः) विशेषणादि पर ध्यान करने से स्वतः स्पष्ट हो जाएगा। परमात्मा (परम+अत्मा), परमेश्वर (परम + ईश्वर),

इस प्रकार जीवात्मा **(जीव + आत्मा)**, आदि विशेषण को विशेष रूप में जान लेने पर तत्व, ध्येय एंव मार्ग सहज हो जाते है। विशेषणों की गहराई में आयें।

जीवात्माः- जीव जो आत्मा द्वारा ही जीवन्त है। अभेद ब्रह्म को पढ़ाने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। सहज बुद्धि के द्वारा ही आत्म तत्व को समझा जा सकता है।

(44) अन्तर उपपत्तेः ।।1 ।2 ।13 ।।

अन्तर- देह के अन्तर, शरीर के भीतर। उपपत्तेः - (उप- व्याप्त। पत्तेः - स्थापित)

ब्रह्म (आत्मा) देह गुहा के भीतर ही स्थापित है। इसलिए वाह्य जगत से विरक्त निमित्त धर्म का भाव करते हुए अन्तःमुखी होकर ही ब्रह्म का दर्शन, ज्ञान, अनुराग एवं योग संभव है।

सत्य (आत्मा) हमारे बैठा हमें पुकार रहा है और हम बाहर विषयों में ही भटक रहे हैं। हम अपने **आत्म-स्वरूप जीव रूप** का दर्शन भी नहीं कर पाए है। हम सब सिर्फ शरीर के आवरण से ही एक दूसरे को पहचानते हैं।

(45) स्थानादिव्यपदेशाच्च।।1।2।14।।

स्थान - स्थापित है उस स्थान पर ब्रह्म, आदि - आदि काल से निरन्तर, व्यपदेशाच्च - व्याप्त, आत्मा के रूप में, शरीर के भीतर, हृदय प्रदेश में।

सप्त लोक, सेवेन्थ हेवेन, सात आसमानों मे जिस ईश्वर की कल्पना करते हैं। वह ईश्वर घट-घट वासी आत्मा के रूप में व्याप्त है, देह में सर्वत्र आदि काल से।

ईश्वर का स्थान कहाँ है? वह किस देश का वासी है? इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि वह **दिव्य ईश्वर हमारी देह रूपी गुहा के भीतर सर्वत्र व्याप्त है।** इसलिए साधक और तपस्वी को प्राणिमात्र में भेदभाव नहीं करना चाहिए।

(46) सुख विशिष्टभिधानादेव च।।1।2।15।।

सुख - आत्मिक सुख जो सत्य है। विशिष्ट - नित्य, विशेष एवं व्यापक, अभिधानः - (अभि- सम्मुख, व्याप्त), धान- धारण करें। देह के भीतर आत्म सम्मुख हों, देव - आत्मा ईश्वर को प्राप्त हों, च-तथा। सत्य, नित्य सुख की अनुभूति करें।

सच्चा सुख आत्मा में होता है। इन्द्रियों में कोई स्वयं का आनन्द नहीं होता है, वह केवल आनन्द की अनुभूति के साधन मात्र है। इस उदाहरण से स्पष्ट करते है कि मोर के भीतर आनन्द की हिलोर उठी तो पँख फैलाकर नाचने लगा। यहाँ नाचना कोई आनन्द नहीं है अपितु आनन्द

की अभिव्यक्ति हैं। ईश्वर का दर्शन आत्म-ज्ञान से होता है। **असत्य और अज्ञान तो परछाई मात्र हैं।** जब हम अपने में पूर्ण हैं तो हमें अपनी पूर्णता में आना चाहिए। सुख का सागर हमारे भीतर हिलोंरे भर रहा है और यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम बाहर अतृप्तियों में व्यर्थ भटक रहे है।

(47) श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च।।1।2।16।।

(श्रुतः, उपनिषद, अगत, अभिधा, नाच्च)

श्रुतः श्रुतियों, वेद वचनों, उपनिषद (उप-व्याप्त होना, निषत अथवा निषद - बैठना), उपनिषद ग्रन्थों में।

अगतः- नित्य एंव अगम आदि ग्रन्थों में। चः भी। अभिः सम्मुख व्याप्त हों। नाः हम सब।

ऐसा कहा गया है कि परमेश्वर घट-घट वासी आत्मा के रूप में सबमें व्याप्त है। उन्ही से अन्तःमुखी होरक योग करना ही सुख एवं मात्र उपलब्धि है।

सभी श्रुतियाँ सद्गन्थ यही कहते हैं कि जो ब्रह्म (आत्मा) हमें धारण कर रहा है, हमारा भी यही कर्तव्य है कि स्वयं को उसी आत्मा में व्याप्त कर दें।

सत्य आत्मा का संग करना, उसी में व्याप्त हो जाना ही सत्संग है। सत्संग गंगा के रस का पान तीन तरह के भक्त करते हैं, उन्हें इस उदाहरण से समझे, जैसे किसी पात्र में जल भरा हो, हम आत्मा सत्संग गंगा का अमृत समझे, और प्रथम उसमें एक पत्थर की मूर्ति डालें और निकाले तो हम पायेंगे कि पत्थर पर कुछ बहुत हल्का सा जल का असर हुआ है, परन्तु हवा लगते ही जल का असर खत्म हो जायेगा। पत्थर जैसे पहले था वैसे ही हो जायेगा। उस पर अमृत जल का कोई असर नहीं रहेगा। अब हम अमृत जल में कपड़े की गुड़िया डालें तो हम पायेंगे कि कपड़े की गुड़िया पूरी तरह भीग गई है, और बाहर निकालने पर भी बहुत देर तक भीगी रहेगी, इतना होने पर भी हम देखेंगे कि पूरी तरह से **योग, अद्वैत** नहीं हुआ है, क्योंकि सांसारिक विषयों की हवा लगते ही कपड़े की गुड़िया पर से भी अमृत जल

का प्रभाव खत्म होने लगता है, और कुछ क्षण पश्चात वह भी अपने पुराने रूप में आ जाती है।

अब अगर हम उसी अमृत जल में चीनी का पुतला डालें तो हम देखेंगे कि चीनी का पुतला अपना रूप खोकर पूरी तरह जल में घुल-मिल गया है, यही **योग व अद्वैत की अवस्था हैं।**

स्वयं को पूर्ण रूप से ब्रह्म (आत्मा) में ही व्याप्त कर देना ही योग है।

(48) अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।।1 ।2 ।17 ।।

अत- अन्यत्र। वस्थिते - स्थिर है, ऐसा। असम्भवः - असम्भव है। **(वह आत्मा में ही हैं)** च-तथा नेतरः - (न+इत्तरः) **नहीं अन्यत्र** कहीं भी।

कस्तुरी कुण्डली वसै, मृग ढूढ़ें वन माहिं

अन्यत्र कहीं वह ब्रह्म स्थित है मुझसे हटकर, ऐसा कदापि नहीं हैं। वह यहाँ वहॉ नहीं हम सब के भीतर है।

वेद की ऋचाओं में भी ब्रह्म (आत्मा) को घट-घट वासी माना है, वेद की ऋचा है।

अतितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्।
यस्मिन विश्वानि पौंस्या।।1 ।2 ।9 ।।

सीपी में बन्द मोती की भांति व्याप्त हो सचराचर में ! यज्ञों से तुम्हारे पुनः पुनः प्रकट होता क्षण भंगुर संसार! मृत्यु को पराजित करता जीवन्त हो उठता है।

(अक्षितोतिः) सीपी में वन्द मोती अथवा मुंदी हुई पलकों में पुतली (इदम) इस प्रकार (सने) हे! स्नेहसिक्त! हम पाते हैं तुमको (वाजम्) यज्ञ करते हुए (इन्द्रः) आत्म-ज्वालाओं (विश्वानि) में क्षण भंगुर संसार (पौंस्या) पुनः प्रकट होता है, उत्पन्न होता है। हे आत्मा। हे प्राण! हे यज्ञ! हम पाते हैं तुमको चहुं ओर, सर्वत्र! जैसे सीपी में बन्द मोती होता है, अथवा मुंदी हुई

पलकों में प्यारी पुतली हैं। हे ईश्वर, उसी प्रकार हम तुम्हें सम्पूर्ण देह रूपी सीपियों में आत्म-स्वरूप पा रहें हैं। आत्म स्वरूप होकर, सम्पूर्ण सचराचर में हे घट-घट वासी हम तुम्हें व्याप्त देखते हैं। हे नारायण! आप ही आत्मा के स्वरूप में, प्रत्येक देह में, शरीर में, ब्रह्म ज्वाला में असंख्यों-2 यज्ञ निरन्तर कर रहे हैं, जिसके कारण यह क्षण भंगुर संसार बारम्बार मृत्यु की गहरी नींद को तोड़ता हुआ पुनः जीवन्त हो उठता है। बूढे तन की राख, खेत की मिट्टी, तुम्हारे ही यज्ञ के द्वारा यथा देहों में, संततियों में लौट आती है। खेत की मिट्टी, किसी के आगन में, उसके भविष्य का सपना, भोला सुन्दर सा बच्चा बनकर जीवन लीलाएँ करने लगता है।

खेत की मिट्टी जो किसी के आंगन का बालक बन बैठी है, पुनः जब तुमको समर्पित होती है तो क्षीर सागर (आकाश) में नित्य अमर यौवन को प्राप्त होती देवत्व को प्राप्त हो जाती है। **धरा की धूल गगन (आकाश) का भाल तिलक हो जाती है।**

(49) अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।।1।2।18।।

अन्तः, याम्य, **अधिदैव,** आदिशु, तत्, धर्म, व्यपदेशात्

अन्तः (भीतर) शरीर में व्याप्त है, **आदि देवता** आदि सभी। ऐसा ही सर्वत्र सभी वेदों, पुराणादिक, श्रुतियों में उपदेशित हुआ है। आत्मा में अपने भीतर आकर दृढ़ स्थित हो जाओ। समस्त देवता, तीर्थ, आदि हमारे भीतर हैं। सभी ग्रन्थ आदि में यही उपदेशित हुआ है। सम्पूर्ण सचराचर सूक्ष्म होकर हमारे भीतर समाया है।

(50) न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात्।।1।2।19।।

न- **नहीं**। स्मार्त - **स्मृतियों के पुजारी, सनातन धर्म के अनुयायी।** मतम् - मत के अनुसार। धर्माभिलापात - धर्मानुलम्भी भी ईश्वर का देह से बाहर भाव रखते हैं।

वे सम्भवतः ईश्वर को घट-घट वासी, सचराचर में व्याप्त है, ऐसा ही मानते हैं। स्मार्त धर्म (स्मृतियों को मानने वाले) ऐसी कोई अभिलाषा

या कामना नहीं करते हैं कि ईश्वर हमसे अलग अन्यत्र हैं।

(51) शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते।।1 ।2 ।20।।

शारीरः शरीर में तथा शरीर संबंधी। च- तथा। उभये- दोनों रूपों में। अपि- भी। हि- नही किया गया है। ऐनम- ऐसा। अधीयते - अध्ययन नहीं किया है।

अर्थात जीवात्मा ब्रह्म की मानसी उत्पत्ति तथा आत्मा ही परमेश्वर का लीलावतार, सर्वव्यापी, सचराचर को उत्पन्न एवं धारण करने वाला है। यह शरीर रूपी घर भी आत्मा द्वारा निर्मित एवं रक्षित, संचालित होता है, जीवात्मा के हित में।

शरीर को अपनी पहचान मानना असत्य है। **जीव रूप से हम सब इस शरीर से अलग हैं तथा जीवात्मा ही हमारा रूप है।**

जीवन एक समीकरण है-

आत्मा (परमात्मा) - जीव-शरीर। आत्मा, जो परमात्मा का लीलारूप है। **शरीर एक प्रतिक्रिया है उस सृष्टि यज्ञ की जहॉ से जीवन की उत्पत्ति है।** सृष्टि यज्ञ हम सबमें प्रज्जवलित् है।

(52) अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः।।1 ।2 ।21।।

अदृश्यत्व - अदृश्य है, तत्व में समाया हुआ। आदि - इत्यादि।

गुणको - गुणों के द्वारा ही स्वभाषित होता है।

धर्मोक्ते - उक्त उपदेश धर्म ग्रंथों, ज्ञानियों में सदा कहा गया है।

आत्मा ही घट-घट वासी परमात्मा (परम+आत्मा) का लीलावतार है। **परमात्मा ही अदृश्य आत्मा होकर हम सबमें समाया हुआ है।**

(53) विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ।।1 ।2 ।22।।

विशेषण, व्याख्या, प्रस्तुति, उपमा आदि के भेद सदृश्य उपदेशों में आयी व्याख्याओं को भी तथा उपरोक्त आत्मातत्व के ज्ञान को अन्य भाव से नहीं लेना चाहिए।

आत्मा को तत्व से घट-घट वासी रूप में जानना ही उचित है। उपमाओं, व्याख्याओं को भेद जानकर कि परमेश्वर मुझसे अलग कहीं और है ऐसा सोचना गलत है। **"यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" सम्पूर्ण सचराचर सूक्ष्म** होकर सबमें समाया है।

(54) रूपोपन्यासाच्च ।।1 ।2 ।23 ।।

रूपः- अर्थात् देह में।

उपः- व्याप्त।

चः- तथा।

न्यासः- न्यासी भाव ही आत्मा अथवा ईश्वर का भाव है। ईश्वर की कल्पना आत्मा के रूप में हुई है। **जीवात्मा निमित्त सेवक तथा शरीर, जीवन, एक न्यास की भांति है।**

यह शरीर आत्मा की धरोहर है, हम सब तो निमित्त मात्र है। आत्मा के प्रकाश से ही शरीर में चैतन्यता बनी रहती है। **चेहरे की सुन्दरता अपने में कोई सौन्दर्य नहीं है,** क्योंकि आत्मा के बिना सुन्दर चेहरा भी शव (मुर्दा) है। **रूप (शरीर) में व्याप्त जो आत्म-ज्योति है, उसी का ये शरीर (न्यास) धरोहर है।** इस तत्व को न जानकर शरीर को ही अपना यह मेरा है, ऐसा मानते है, वह अज्ञानी हैं। सनातन धर्म तत्व दर्शन का धर्म है, **जो तत्व को जान पायेगा उसी का उद्धार होगा।**

हम अपने ही अन्तर्जगत से अपरिचित हैं। दुनिया (वाह्य संसार) को जान लेना आसान है परन्तु **स्वयं को जानना अति दुर्लभ है।** वेद ब्रह्म सूत्र सदग्रंथ हमारे **अन्तर्चक्षु** खोलते हैं। तभी हम जान पाते हैं कि हमारा अन्तर्जगत अति सुन्दर व ज्योतिर्मय है।

जिसने स्वयं को नहीं जाना **उसका बाहर का ज्ञान व्यर्थ है।** एक ही वस्तु हर व्यक्ति भिन्न देखता है, और सभी मानते है कि वही सही देख रहे हैं।

ईश्वर को तत्व से ही जाना जा सकता है।

(55) वैश्वानरः साधारणशब्द विशेषात् । ।1 ।2 ।24 । ।

वैश्वानरः- विश्व व्यापी है ईश्वर की प्रतिष्ठा। साधारण रूप से विशेषण में ग्रहण किया गया है। ईश्वर किसी स्थान विशेष (सप्त लोकादि) में बंधक अथवा सीमित नहीं हैं, तथा न ही किया जा सकता है।

सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान, घट-घट वासी एवं सम्पूर्ण सचराचर, पाँचों तत्वादि उसका स्वरूप है।

वैश्वानरः शब्द का अर्थ है, मृत्यु से हीन अमर अवस्था का होना ही वैश्वानर है। भले ही यह शब्द सुनने में साधारण लगे, परन्तु वैश्वानर आत्मा के लिए ही है। इसे साधारण अग्नि या जढराग्नि मात्र ही नहीं, समझना चाहिए।

वैश्वानर एक अमर अवस्था है जिसे प्राप्त करना होता है, तप साधना के द्वारा। जैसे डाक्टर (चिकित्सा) की उपाधि मिलने के बाद ही व्यक्ति चिकित्सक कहलाता है, उसी प्रकार वैश्वानर अवस्था को भी प्राप्त करना होता है।

भक्ति का आधार ईश्वर में दृढ़ विश्वास है। जरा सी भी विषम या विपरीत परिस्थिति आने पर हम घबड़ा कर झूठ, फरेब कपट आदि का सहारा लेने लगते हैं। ईश्वर हमारे ऊपर किसी भी प्रकार का बाहरी नियन्त्रण नहीं रखते हैं, इसीलिए उन्होंने हमें बुद्धि की स्वतंत्रता दी है।

धर्म का सही ज्ञान आत्मा की सत्ता में पूर्ण विश्वास से ही आता है।

(56) स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति । ।1 ।2 ।25 । ।

स्मर्यमाणम्, अनुमानम्, स्यात् इति।

स्मृति में ग्रहण किये, स्वीकृत, अनुमानित ऐसे ब्रह्म की कल्पना ही वैश्वानर आदि ईश्वर के पर्याय हैं। ईश्वर घट-घट वासी है मुझमें एवं सबमें व्याप्त आत्मा ही वैश्वानर की उपाधि हैं।

सम्पूर्ण स्मृतियों का जो अनुमान है, उसमें भी ईश्वर घट-घट वासी है, वही वैश्वानर है। **मानव योनि ज्ञान की योनि है।** ईश्वर की राह ही जीवन का लक्ष्य है, तथा जिसमें विनम्रता नहीं वह कभी ईश्वर को नहीं पा

सकता है। जो सत्य आत्मा का तिरस्कार कर के विद्वता के पाखण्ड में चला जाता है, उसका कभी कल्याण नहीं हो सकताहै।

(57) शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथा दृष्टयुपदेशादसम्भवात्पुरूषमपि चैनमधीयते।।1।2।26।।

शब्द, आदि, भ्याः, अन्तः, प्रतिष्ठा, नः च, न, इति, च, एनः, दृष्ट, उपदेशात, असम्भवात् पुरूषम, अपि, च, ऐनम, अधीयते।

शब्द अर्थात स्मृति वेदादिक उक्तियों के द्वारा भी वैश्वानर आत्मा को ही कहा गया है। इसे जठराग्नि, अथवा किसी साधारण अग्नि के रूप में उपदेशित करना उचित नहीं है।

ब्रह्म-सूत्र वेद के सूत्रधार हैं। जितने शब्द (सद् ग्रंथो के वचन) आख्यिकाएँ जो भी हैं, वह आत्मा में ही प्रतिष्ठित होने को कहती है। जो भी उपदेश हैं, वह आत्मा (वैश्वानर) को उसी भाव में ग्रहण कराते है।

वैश्वानर अग्नि आत्मा (आत्मा-ज्वाला) है। यह अग्नि अगर भस्म करती है, तो यह नूतन सृष्टि भी करने में समर्थ है।

वेदों में जिस यज्ञ का वर्णन है वह मूलतः आत्म-यज्ञ ही है। यह यज्ञ ईश्वर का बनाया हुआ है, तथा इस से सचराचर उत्पन्न हो रहा है, इसे इसी भाव में ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार गर्भ में आत्म-यज्ञों के द्वारा बालक (जीव के शरीर) का निर्माण होता है, उसी प्रकार आकाश में हिरण्रूगर्भ में ग्रहों, नक्षत्रों का रूप बनता है। वेदों के अनुसार आत्मा रूपी अवनि (अग्नि) पर ही हमारा अन्तिम संस्कार हो।

'यो रायोऽवनिर्महन्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत'   1।1।1।4।10

शीघ्रता से जो आत्म-ज्वाला में अपनी अन्त्येष्ठि कर हुआ पार, उसके गीत गाये यज्ञ की ज्वालाओं ने दहकते होठों से। (यो) जो (रायो) शीघ्रता से (अवनिः) आत्मा रूपी धरती पर (महान्त्सुः, महः + अन्त्सु) अपनी महा अन्त्येष्ठि करके (सुपारः) हुआ जीवन के उस पार, ब्रह्म - ज्वालाओं में

यज्ञ कर पुनः प्रकट हुआ जो (सुन्वतः) उत्पन्न हो गया, पुनर्जन्म हुआ जिसका (सखा) बन गया स्वयं आत्म सखा (तस्मा) उसे (इन्द्राय) महान गीतों की अग्नियों ने (गायत) गाया।

जो कर गया अन्त्येष्ठि अपनी आत्मा रूपी अवनी पर। जिसने अपना सर्वस्व सम्पूर्ण न्यौछावर कर दिया, अपनी ही अन्तर ज्वालाओं को जला गया जो, मिट गया, खो दिये, अपने अस्तित्व सारे, बन कर यज्ञ सामिग्री। आत्मा-ज्वालाओं में सामिग्रीवत् यज्ञ हो गया जो। यज्ञ की ज्वालाओं के गर्भ से फिर जन्मा, फिर प्रकट हुआ। विष्णु सा सुन्दर तथा रूद्र सा प्रलंयकर एंव सामर्थ्यवान। युगों तक गाती रही यज्ञ की ज्वालायें, उसके गीत। वेद की ऋचाओं का वह लोक गीत हुआ।

आत्मा-ज्वाला ही वैश्वानर है।

(58) अत एव न देवता भूतं च।।1।2।27।।

अत एवः अतः (वैश्वानगर शब्द से) न देवता अथवा भूत प्राणी आदि आकाश आदि का भाव लेना चाहिए।

वैश्वानरः विगत श्वा- मृत्यु से रहित, अमर, मृत्युञ्जय आत्मा का ज्ञान है।

पूर्व सूत्रों में वैश्वानर की चर्चा करते आ रहे है। **वैश्वानर आत्मा का ही पर्यायवाची है।** इसे कोई देवता, भूत प्राणी, जीव या कोई साधारण अग्नि अथवा जठराग्नि नहीं समझ लेना चाहिए। साधारण अग्नि जो आवागमन अर्थात् जन्म-मृत्यु जैसे प्रज्वलित होकर फिर समाप्त हो जाना इस प्रकार की साधारण अग्नि वैश्वानर नहीं हो सकती है।

वैश्वानर "वसु" आत्मा को ही कहते हैं। "वसु" को स्पष्ट करने के लिए हम महाभारत का दृष्टान्त लेते है। महाभारत का महासमर आरम्भ है। दो अद्भुत महारथी आमने सामने हैं। दोनों ही अपनी माता के आठवें पुत्र संतान हैं। विचित्र समता है, दोनों में, एक ने कहा है कि वह अस्त्र नहीं उठायेगा, केवल रथ चलायेगा। दूसरे ने कहा कि अस्त्र उठवा ही दूँगा। उसे अस्त्र उठाना ही पड़ेगा।

एक है महाप्रतापी भीष्म, जिसका पूर्व नाम देवव्रत है, पूर्व जन्म के आठवें वसु प्रभास हैं। दूसरे हैं वसुदेव व देवकी के आठवें पुत्र भगवान श्री

कृष्ण। दोनों दिव्य एवं आलौकिक पुरूष, हैं। ये दोनों पुरूष, ऋग्वेद में भी ऋचायें बनकर आमने सामने खड़े हो जाते हैं। एक जो भीष्म है वह वाह्य यज्ञ का स्वरूप हैं। दूसरे हैं भगवान श्री कृष्ण जो कि आत्मस्थ यज्ञ है।

जब जीव की सप्त वासनात्मक अग्नियाँ ज्ञान की गंगा में सो जाती है, तब इस आठवीं अग्नि अर्थात आत्म-ज्वाला का ज्ञान होता है। उसके जीवन में प्रभास होता है अर्थात वह स्वयं को जानने की दिशा में सोचने लगता है। **अद्‌भुत दिव्य आत्मा का आभास ही तो प्रभास है** जो कि आठवें वसु का नाम है। जब जीव ईश्वर की ओर झुकनेलगता है तो देवव्रत होता है। आत्मस्थ हुआ मनुष्य हवन यज्ञ आदि की ओर झुकने लगता है। यह वाह्य यज्ञ ही तो आजन्म कुँवारा भीष्म है। यहीं से जीव देवव्रत होता है। यह यज्ञ ही उसे परमेश्वर का आभास देता है। उसके जीवन का प्रभास होता है। परन्तु वाह्य यज्ञ कुँवारा भीष्म है। शाकल्य के साथ वाह्य जगत की अतृप्तियों और वासनाओं को जलाकर मूढ और अकिचंन होने का हेतु है। यह सिर्फ जलायेगा बाहर के विषयों , इच्छाओं को उपाधियों और भेदभाव को नष्ट करने वाला ही वाह्य यज्ञ है। पुष्ट आध्यात्मिक आस्था पूर्ण समर्पित भक्ति का स्वरूप वाह्य यज्ञ भीष्म है।

वाह्य जगत से मूढ़ और अकिंचन होकर जब जीव आत्म-ज्वालाओं में स्वयं को आत्मा रूपी अग्नियों में यज्ञ करता है तो वह आत्मा रूपी यज्ञ कुण्ड से ज्योतिर्मय जन्म धारण करता आत्मा श्री कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न होता है। "प्र" अर्थात् अजर अमर "धुम्न" अर्थात कौंधती और तड़पती हुई बिजली से स्वरूप में यज्ञ होकर कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न हो जाता है। सृष्टि यज्ञ, आत्म-ज्वालाओं में किस प्रकार यज्ञ होकर ईश्वर की राह में जीव का जन्म होता है, इसे वेद की ऋचाओं में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्या
अपेशसे समुषद्भिरजाययाः।।ऋ।1।6।3।।

(केतुम) उपाधियों को (कृण्वन) नष्ट करके (अकेतवे) अर्थात् अकिंचन (पेशो) भेद जगत का भेदभाव (मर्य्या) सीमा (मर्यादा) को तोड़कर (अपेशसे) अर्थात मूढ़ और अकिंचन हो (समुषदिभः) प्रातः काल के उगते हुए सूर्य के समान (अजायथाः) यदि जन्मना चाहता है।

अन्तर में जगत में, ईश्वर की राह में यदि तुझे जन्मना है, आत्मा की राह का यदि तुझे अनुसरण करना है तो पहले उपाधियों को नष्ट कर और अकिंचन हो भेद जगत की सीमाओं को तोड़ ओर मूढ हो जा। जब तक मूढ़ और अकिचन नहीं होगा ईश्वर की राह में तेरा जन्म भी नहीं होगा। आत्म यज्ञ कैसे करें? इसे इस ऋचा से जानो।

"आ दह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधानां नाम यज्ञियम्" ।।ऋग्वेद ।1 ।6 ।5 ।।

(आ दह आकर दहन हो, यज्ञ हो (स्वधामन्) आत्म रूपी धाम में, (पुंनर्गभत्वामेरिर) आत्मा के गर्भ से पुनः ज्योतिर्मय सूर्य बनकर प्रकट हो, उत्पन्न हो। (दधाना) धारण कर, अर्थात् चरितार्थ कर (नाम) नाम चरितार्थ कर (यज्ञियम्) यज्ञ के अर्थात् जब वाह्‌य जगत में मूढ़ ओर अकिंचन हो जाये? ईश्वर की राह में जन्मने का अधिकार तू पा जाये, तब अन्तर्मुखी हो आत्मा रूपी कृष्ण ज्वालाओं में स्वयं को यज्ञ कर दहन कर, सूर्य सा तेजस्वी बन उस गर्भ से ज्योतिर्मय सूर्य बनकर पुनर्जन्म को प्राप्त हो तथा यज्ञ के नाम को चरितार्थ कर।

(59) साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।।1 ।2 ।28 ।।

साक्षात् रूप से भी व्याप्त दर्शन में भी, कोई विरोध वैश्वानर की व्याख्या से नहीं है। जैमिनी ऋषि ने भी ऐसा माना है। सांख्य दर्शन भी इसे ही प्रतिपादित करते है।

जेमन शब्द का अर्थ जीमने अर्थात् भोजन ग्रहण करने से है। जैमिनीः शब्द का अर्थ ब्रह्म-ज्वालाओं में यज्ञ होकर ज्योतियों में पुनर्जन्म पाता भोजन है। भोजन को पचाने के कारण ब्रह्म-ज्वालाओं को जठराग्नि भी कहा गया है, वैश्वानर अमर आत्मा को ही कहते हैं।

यह पूर्व सूत्रों से जुड़ा सूत्र है कि क्या आत्म-अग्नि मात्र जठराग्नि है? जठराग्नि पेट की भूख है, और वैश्वानर आत्मा ही ब्रह्म-ज्वाला है यह जठराग्नि मात्र ही नहीं है।

वेद के ऋषियों के नाम भाव प्रधान होते है माता-पिता प्रदत्त नाम नहीं होते हैं। जैसे ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा का अर्थ है, जो विष से भी अमृत, निकाल ले, उसे मधुछन्दा कहते है।

उसी प्रकार मेधा तिथि का अर्थ है जो मेधा (बुद्धि) में अतिथि बनकर आया है। इनके माता पिता का नाम भी भाव प्रधान है। पिता कर्दम तथा माता देवहूति। कर्दम कहते है कीचड़ को। जब कीचड़ देवत्व की आहूति (देवहुति) होती है, तो जीवन अंकुरित होता है। कमल कीचड़ में होता है परन्तु कीचड़ से निर्लिप्त रहता है। ऋषि कर्दम तथा माता देवहूति लक्ष्मी जी के भी, माता-पिता हैं।

इसी प्रकार **"वेद-व्यास" शब्द का भी अर्थ है कि वो वेदों (ज्ञान) की भी सीमा (व्यास) बांध दे वह वेद-व्यास है।**

जैमिनिः शब्द जमन से (जीमना) से हुआ है। जैमिनिः का भावार्थ हुआ कि जो ब्रह्म-ज्वाला, आत्म-अग्नि द्वारा जीम लिया गया तथा पुनः ज्योतियों में प्रगट हो गया, वह जैमिनी है। यह हम सबमें आत्मा के रूप में है।

(60) अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः।।1।2।29।।

अभिव्यक्ते : अभिव्यक्त हुआ है जो आश्मरथ आदि ऋषियों के द्वारा बारम्बार।

आश्म : पत्थर।

रथः शरीर।

आश्मरथः एक ऋषि का नाम जिन्होंने निर्गुण ब्रह्म की सगुण पूजा का विधान किया था तथा जो मूर्ति पूजा के जनक माने गये है। निर्गुण एवं सगुण में भेद नहीं हैं, सगुण राह है निर्गुण उसकी उपलब्धि है। उनका ऐसा मत है।

पूर्व सूत्रों में आत्मा को ही वैश्वानर कहा हैं आश्मरथ ऋषि जिन्हे मूर्ति पूजा का जनक कहा गया है, जिन्होंने सर्वप्रथम कण-कण में भगवान को विराजमान कहा। माण्डूक्य उपनिषद में इनकी विशेष चर्चा है। आश्वमरथ ऋषि के अनुसार सगुण, द्वैत धर्म मार्ग है। ईश्वर तक पहुँचने के लिए भगवान की मूर्ति नक्शे का काम करती है। सगुण उपासक आश्मरथ ऋषि, ने भी आत्मा को ही वैश्वानर कहा है।

तत्व को जानने वाले सगुण और निर्गुण के भेद को नहीं मानते हैं। जो सगुण और निर्गुण दोनों को जानने वाले हैं, सगुण उपासना के मार्ग से

परिमार्जित होते हुए निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

(61) अनुस्मृतेर्बादरिः ।।1 ।2 ।30 ।।

अनुस्मृतेः- अनुसरण करती स्मृतियों सम्पूर्ण तथा बादरिः - (बादरायण) ऋषि भी। अनन्त निर्गुण, निराकर, परमेश्वर सगुण, साकार (घट-घट वासी) भी है। **उसे आत्मस्थ भाव में ही पाया जा सकता है।**

स्मृतियों में भी यही भाव है कि भक्ति अन्तर्मुखी होकर ही की जाती है। बादरि ऋषि वेद व्यास ही हैं। **बादरि का अर्थ बेर होता है।** बादरायण (वेद व्यास) ने भी अपनी सम्पूर्ण स्मृतियों में आत्मा को ही यज्ञ माना है। जो भीतर से इस सृष्टि यज्ञ के तत्व को नहीं जानते हैं वह मात्र भौतिक कृत्य ही करते हैं।

आश्मरथ ऋषि का भी यही भाव है कि मूर्तिपूजा के द्वारा स्वयं को जानो तथा इस शरीर में व्याप्त मूर्तिमान आत्मा को पहचानो।

जो स्वयं से कट गया, जिसने कभी अन्तर के सत्य को नहीं जाना, उसने कभी सत्य को भी नहीं जाना है।

(62) सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति।।1 ।2 ।31 ।।

समान भाव से इस भान्ति जैमिनि ऋषि ने तथा अन्य दर्शन शास्त्रों में भी आत्मा को हृदय में व्याप्त दर्शन की बात सर्वत्र कही गयी है। आत्मा ही ईश्वर वैश्वानर तथा सचराचर का जनक है तथा उसका आत्मस्थ भाव में ही दर्शन पाया जा सकता है।

वह ईश्वर आत्मा के रूप में समान भाव से घट-घट वासी है। इस भान्ति जैमिनी ऋषि तथा **सम्पूर्ण दर्शनों में हृदय (शरीर) में ही आत्म-यज्ञ की कल्पना की है।**

हमारा अस्तित्व आत्मा से है वही हमारा मूल कारण है। गुलामी की लम्बी दासता के कारण वेद का ज्ञान प्रायः लुप्त सा हो गया है, इसी कारण हम अपने मूल उद्गम, जड़ो को पहचान नहीं पा रहें है। जो संस्कृति, जाति अथवा मनुष्य की सोच अपनी जड़ों से कट जाती है वह अन्ततः विनाश को प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार कितना ही विशाल वृक्ष हो, अगर

वह अपनी जड़ों की अवहेलना करेगा, दंभ अंहकार या अज्ञान से अपनी जड़ों से अलग हट कर जीने की कोशिश करेगा तो उसका महा विनाश हो जायेगा। **यह प्रकृति का शाश्वत नियम है।**

वेदों स्मृतियों आदि में जिस आत्म-यज्ञ, सृष्टि यज्ञ की बात की गयी है वह अपने में अनूठी है, क्योंकि ऐसी कल्पना अन्य विदेशी धर्मो में या संस्कृतियों अथवा विज्ञान में भी नहीं हैं। इसलिए हम भी (आत्म-यज्ञ) (सृष्टि यज्ञ) को पूर्ण रूप से आत्म-सात नहीं कर पाते है जबकि इसी सृष्टि यज्ञ के कारण निरन्तर उत्पत्ति हो रही है जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

ईश्वर को पतित पावन भी इसलिए कहा गया है क्योंकि ईश्वर की समस्त समाज तथा जीव धारियों द्वारा त्याज्य जो मल है, उसे आत्म-यज्ञों में ग्रहण करके, उस ज्याज्य पतित मल को, दुर्गन्ध को, पुनः पावन वनस्पतियों फल, फूल सुगन्ध में लौटाने की शक्ति केवल ईश्वर में ही है, इसीलिए ईश्वर पतित पावन हैं।

(63) आमनन्ति चैनमस्मिन्। ।1 ।2 ।32 । ।

आमनन्ति : आरम्भ से अन्त तक सभी वेदों, स्मृतियों, ऋषियों ने।

च :- तथा।

ऐनम् :- इसको, इस भान्ति ही।

अस्मिन :- इस प्रकार सिद्ध किया है।

आत्मा घट-घट वासी वैश्वानर है तथा उसे आत्मस्थ होकर ही पाया जाता है।

यह दूसरे अध्याय का समापन सूत्र है। जैसा कि पूर्व सूत्रों में कहा गया है कि आत्मा ही यज्ञ है, वैश्वानर है तथा ईश्वर को पाने के लिये आत्मा के अनुशासन में आना होता है। आरम्भ, आदि से अन्त तक हर सांस प्रतिक्षण आत्मा से ही जुड़कर जीना चाहिए, **वाह्य संसार सेवा का क्षेत्र है,** निष्काम भाव से सचराचर, जीव मात्र की सेवा करें परन्तु **ईश्वर से मिलन तो मात्र अंतरात्मा में अपने भीतर ही होता है।**

इति श्री ब्रह्म-सूत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय द्वितीय पाद।

प्रथमाध्याये- तृतीय पादः

(64) द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्।।1 ।3 ।1 ।।

द्यु - स्वर्ग लोक।

भ्वाद्यायतनम् - पृथ्वी, भूलोक, मृत्युलोक का आधार।

स्व - आत्मा।

शब्दात् - सूचक, बोधकशब्द

आत्मा ही त्रैलोकेश्वर सचराचर का नियन्ता है। उसे अन्तर्ःमुखी होकर योग के द्वारा ही पाया जा सकता हैं। स्वर्ग तथा बैकुण्ठ की कल्पना भी आत्मा से ही है। स्वर्ग - (स्व+अर्ग - स्व (आत्मा) में "अर्ग" (सीमा) सीमित होना ही स्वर्ग है। इसी प्रकार बैकुण्ठ शब्द का संधि विच्छेद करने पर। वै- विगत, त्यक्त कुण्ठ, कुण्ठाओं से, जो समस्त कुण्ठाओं से परे हो गया वही बैकुण्ठ पाता है।

जैसा कि पूर्व सूत्रों में बताया गया है वैश्वानर कोई साधारण अग्नि नहीं है। **तीनों लोकों में व्याप्त ऐसा वैश्वानर आत्मा ही है।** वही उत्पत्ति का यज्ञ है। ब्रह्म-ज्वाला जो समस्त जीव आदि के देहों में व्याप्त है वही सुष्टि करती है।

अध्यात्म एक महाविज्ञान है, एक पाठशाला की भांति। वाह्य पूजा, कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि नैमितिक कर्म है जीवन रूपी पाठशाला की प्राइमरी कक्षाएँ। हमें अध्यात्म की ऊँची कक्षाओं में भी प्रवेश करना है। सारी उम्र प्राइमरी की एक ही कक्षा में बिता देना कोई समझदारी नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का सत्य स्वयं ही खोजना होता है। धर्म की राह पर ग्रंथों में लिखी हुई बातों को तभी आत्म-सात करें, जब हमारा अन्तर्मन उसे स्वीकार करे तभी उसे सत्य मानना चाहिए।

साधना भक्ति ब्रह्मरन्ध्र (पीनियल बाडी) में प्रवेश करके ही होती है क्योंकि सम्पूर्ण मन व शरीर पर नियन्त्रण ब्रह्मरन्ध्र से ही होता है। देह बल,

मनोबल तथा आत्म-बल यह तीन बल हम सबके भीतर सदैव रहते है। देह बल पर नियन्त्रण (संकल्प शक्ति) को जाग्रत करने से होता है तथा उसके बाद ही ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करना संभव होता है। **ब्रह्मरन्ध्र में ही जीव का आत्मा से मिलन है तथा जीव आत्मा से तद्रूपता प्राप्त करता है, इसी को अद्वैत कहते है।**

(65) मुक्तोपसृप्य-व्यपदेशात् ।।1 ।3 ।2 ।।

मुक्ति (मोक्ष) तथा उत्पत्त सम्भव है जिसमें व्याप्त होकर वह आत्मा ही है। "स्व" शब्द से जीवात्मा का बोध करना नितान्त भ्रम है। "स्व" **आत्म बोधक शब्द है।**

व्यक्ति पूजा सर्वथा अनुचित है। सनातन धर्म की आस्था आत्म-पूजा अर्थात देवपूजा में ही है। इसमें शरीर में व्याप्त अमर आत्मा ही पूज्य है।

मोक्ष (मुक्ति) मृत्यु और उत्पत्ति के रहस्य जिसके पास हैं वही "स्व" आत्मा है। आत्मा ही जगत का उत्पत्तिदाता है इसी सत्य को अन्तिम रूप से स्वीकारना चाहिए।

हर देह में प्रज्जवलित ब्रह्म अग्नि ही स्व-यज्ञ (आत्म-यज्ञ) है तथा इसी आत्म-यज्ञ में जो स्वयं को सम्पूर्णता के साथ सामग्री की तरह यज्ञ कर देता है, वही सृष्टि के रहस्यों के जान को पाता है और अमर हो जाता है। **मृत्यु का देवता उससे दूर चला जाता है। आत्मा में ही व्याप्त होकर मुक्ति (मोक्ष) तथा ब्रह्म -ज्ञान प्राप्त होता है।**

जीव की पहचान भी आत्मा से ही है। अगर आत्मा नहीं है तो जीवात्मा के पास शरीर भी नहीं है और भौतिक जगत में शरीर के बिना कोई पहचान नहीं होती है। वाह्य स्वरूप निरन्तर परिवर्तनीय है, यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। आत्मा ही सत्य है, इसे हमें अन्तिम रूप से स्वीकारना चाहिए।

भगवद्गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने कहा है "स्वधर्म मरणं श्रेयं" **यहाँ स्वधर्म का अर्थ आत्मा से है** तथा **पराधर्म आत्मा से अलग**, इन्द्रियों में आसक्त भौतिक विषय को कहा गया है। भगवद्गीता का भाव यह है कि

इन्द्रियों में आसक्त होकर भौतिक विषय जगत के लिए जीने से बेहतर है "स्वधर्म" अर्थात आत्मा में स्थित होकर मरना।

(66) नानुमानमतच्छब्दात्।।1।3।3।।

नहीं अनुमान अथवा मत सही है कि "स्व" का अर्थ पृथ्वी भौतिक जगत आदि है। अमर आत्मा को ही "स्व" शब्द से सम्बोधित किया गया है। आत्माशब्द का अर्थ भी जो देह में नित्य व्याप्त आप्त भाव से सृष्टि करता है, स्वयं को भुलाकर।

ईश्वर आत्मा है इसे कोरा अनुमान नहीं समझना चाहिए तथा ईश्वर को आसमानों पर भी नहीं खोजना चाहिए। ईश्वर आत्मा होकर प्रत्येक शरीर (घट) में विराज रहा है उसे अपने भीतर ही खोजना चाहिए।

बाहर बैठकर मात्र अनुमान लगाने से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। वाह्य भौतिक जगत में सत्य नहीं मिलता, सत्य हमारे भीतर है, **मनुष्य की योनि अत्यन्त दुर्लभ है,** ईश्वर प्रदत्त बुद्धि और विवेक का हमें अनादर नहीं करना चाहिए।

हमें विचार करना चाहिए कि हमारे जीवन का उद्‌देश्य क्या है - कहा गया है कि "मन संशय रहित हुआ किसका? आत्मा को संशय हुआ कब"? अगर हमें अपने दुःखों और कष्टों का निराकरण करना है तो उसका एक ही उपाय है, मन को आत्म संगी बनाओं।

(67) प्राणभृच्च।।1।3।4।।

प्राणों को धारण करने वाला तथा प्रकट करने वाला तथा प्रगट करने वाला आत्मा ही "स्व" सम्बोधन से जाना जाता है। यह कहना कि प्राण ही "स्व" अर्थात आत्मा है ऐसा सत्य नहीं है प्राण अथवा प्राण-वायु, आत्म-यज्ञ का उपाचार्य, आत्म निमित्त ही है।

प्राणों को भी धारण करने वाला जो आत्मा है वही "स्व" शब्द से सम्बोधित होता है प्राण को आत्मा का पर्यायवाची मानना सत्य नहीं है।

(68) भेदव्यपदेशात्।।1 ।3 ।5।।

प्राण, प्राणवायु, जीवात्मा के भेद, व्यवहार को समझना चाहिए। **जीवन का मूल आत्मा "स्व" ही है।** वही इन सबका जनक है।

भेदों को भी जानना चाहिए। शरीर, प्राण हम नहीं हैं, मात्र आत्मा ही सत्य है वही मूल जीवन है, वाह्य जगत निमित्त मात्र ही है।

आत्मा से ही सचराचर संभव हैं आत्मा में परम विशेषण लगाने के वह परमात्मा हो जाता है। अगर वाह्य जगत सत्य होता तो हमें जीवन के रहस्यों का पूर्ण ज्ञान होता। मिट्टी को अन्न में बदलना यह कार्य हम स्वयं कर पाते परन्तु ऐसा संभव नहीं है। उत्पत्ति का क्षण अंतर जगत आत्मा में ही हैं। पेड़ों के गर्भ में ही मिट्टी अन्न का रूप पाती है ।

हम ईश्वर को क्यों नही पाते हैं, क्योंकि हम स्वयं को ही नही जानते है कि हम कौन हैं? क्यों हैं? और कैसे है, **स्वयं को जानना अति दुर्लभ है।** मन के बहिर्मुखी होने के कारण यह आसानी से आत्मा के साथ नहीं जुड़ पाता है, जिसके कारण हम बाह्य भौतिक जगत में ही भटकते रहते है।

(69) प्रकरणात्।।1 ।3 ।6।।

श्रुति, स्मृतियों तथा सचराचर (प्रकृति) के नियमन आदि के प्रकरण से भी **आत्मा को ही ईश्वर,** उत्पत्ति-दाता तथा यज्ञ कहा गया है।

प्राण जीवन नहीं है, इस बात को सभी प्रकरणों में पाया गया है।

(70) स्थित्यदनाभ्यां च।।1 ।3 ।7।।

स्थिति आदि के भेद से भी आत्मा ही सृष्टि का मूल है। जैसा कि मुण्डकोपनिषद श्वेताश्वर उपनिषद तथा अन्य ग्रंथों में कहा गया है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षे परिपष्वजाते

तयोरन्याः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नत्रन्योरनष्नन् अभिचाकरीति।।

दो सुन्दर पंखों वाले पक्षी एक वृक्ष पर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उनमें एक पेड़ के फलों को खा रहा है तथा दूसरा कुछ न लेता हुआ

शोभायमान हो रहा है।

शरीर रूपी वृक्ष पर जीवात्मा तथा आत्मा दोनों रहते है। एक भोगादिकों में लिप्त तथा दूसरा अनासक्त रहता सृष्टि करता है।

उपनिषद का अर्थ "उप-समीप" निषाद- बैठना। वेद रूपी ज्ञान गंगा के समीप बैठकर जिस ऋषि ने जितना भाव ग्रहण करके प्रकट किया उसे हम उपनिषद कहते है। लीलाकाव्य आदि भी वेद से भिन्न नहीं है।

एक ही आत्मा सम्पूर्ण सचराचर को सृष्टि यज्ञ के द्वारा निरन्तर उत्पन्न कर रहा है। इसीलिए ईश्वर की कल्पना सचराचर प्रकृति से हटकर नहीं हो सकती है। जहाँ-जहाँ जीवन उत्पत्ति के यज्ञ निरन्तर हो रहे है वहीं ईश्वर का रूप है। एक ही आत्मा प्रकृति से संयुक्त होकर हम सबको एक समान ही उत्पन्न कर रहा है बिना किसी भेद-भाव के। **ईश्वर को अभेद होकर ही पाया जा सकता है।** वेदों में जिस सृष्टि यज्ञ का वर्णन है उसी को महाभारत महाकाव्य में लीलात्मक रूप से विस्तार से बताया गया है। महामुनि कश्यप की पत्नी कद्रु जो सर्पो, नागों की माता है उनका वर्णन वेद, महाभारत तथा पुराणो आदि ग्रंथों में है कि धरती पर सर्वप्रथम वायु धरती तथा जल में विचरण करने वाले कीट,, पतंगों तथा विशालकाय जीवों की सृष्टि उन्हीं के द्वारा हुई।

भगवद्गीता में भी सृष्टि यज्ञ का वर्णन तीसरे अध्याय के चौदहवें श्लोक में है।

"अन्नाद्भवन्तिभूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव।
यज्ञाद्रवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्रवः।।"

सम्पूर्ण प्राणि अन्न में उत्पन्न होते है और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि (जल)से होती है ओर यह वृष्टि (जल) की उत्पत्ति यज्ञ से होती है। अब प्रश्न उठता है कि वह यज्ञ कौन सा है जिससे जल और जीवन उत्पन्न होते हैं, क्यों कि वाहय यज्ञ जो हम करते है वह मात्र नैमित्तिक है इसमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। **सृष्टि यज्ञ एक रहस्य है जिसे आधुनिक विज्ञान भी आज तक नहीं जान पाया है।**

वेदों में इसका वर्णन है कि **आकाश गंगाओं के मध्य एक महाशून्य प्रकट होता है जिसका स्वरूप गर्भनाल की भांति होता है, आधुनिक विज्ञान में इसे ब्लैक होल कहते है** तथा वेद आदि ग्रंथों में इसे ही हिरण्यगर्भ कहा गया है। यही जीवन और जल की उत्पत्ति का मूल है। जिस प्रकार शरीर में गर्भनाल से होकर ही अन्न गर्भ में शिशु का रूप पाते एक नई सृष्टि की रचना करते हैं, यही प्रक्रिया अंतरिक्ष में स्थित हिरण्यगर्भ (ब्लैकहोल) में होती है, जहॉ नाना ग्रह, उल्का पिण्ड आदि इसी गर्भनाल में खिंच जाते है। कई गुणा प्रकाश गति से भी तीव्र गति से जहाँ उनका सम्पूर्णता से अणु से भी सूक्ष्म बिन्दुओं में विखण्डन हो जाता है और इसी हिरण्यगर्भ के दूसरे छोर से वह बिन्दु रूप में प्रकट होकर पुनः आपस में जुड़कर एक नई सृष्टि (ग्रह, नक्षत्र) आदि की रचना करते है।

प्रकृति के नियम अकाट्य है। एक ही नियम सम्पूर्ण सचराचर, ग्रहों, नक्षत्रों, ब्रह्माण्डों तथा समस्त जीवों पर एक समान ही लागू होता है।

(71) भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्।।1 ।3 ।8 ।।

भूमा- अनन्त, नित्य, आत्मा, अजन्मा।

सम्प्रसादात्- समभाव से देह में व्याप्त

अध्य- ऐसे आत्मा का ही।

उपदेशात्- सृष्टा के रूप में उपदेश सर्वत्र हुआ है।

आत्मा ही ईश्वर है जो सभी प्रकार का बल, बुद्धि, सामर्थ्य, शक्ति, सन्तति से वरद होने के निमित्त सत्ता जीवात्मा को प्रदान करता है।

भूमा शब्द का संधि विच्छेद करने पर 'भू'- उत्पत्ति तथा 'मा' - नहीं अर्थात जो अजन्मा है, ऐसा ब्रह्म आत्मा ही सृष्टिकर्ता है। जीव को आयु, शक्ति सभी प्रकार का बल देता है।

हर जीव का सृष्टा आत्मा होकर उसके साथ है। **हमारा मोक्षदाता आत्मा हमारे साथ है** यही सनातन धर्म का मूल भाव है। धर्म हमें ईश्वर आत्मा से अलग नहीं करता है।

जीवन एक यात्रा है। नित्य नई भोर के समान जीवन बार-बार

लौट आता है। धर्म जीवन की उत्पत्ति, सृष्टि के क्षण के साथ जुड़ा हुआ विज्ञान है। धर्म अपने भूल स्वरूप में अतिशय निर्मल, पवित्र किसी भी प्रकार के भेदभाव से रहित होता है।

यह प्राणिमात्र में **"एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति"** का भाव रखता है। जैसे गंगा नदी अपने उद्‌गम स्थल हिमालय में अतिशय निर्मल व पवित्र होती है, परन्तु जैसे-जैसे यह सागर की ओर बढ़ती है, इसमें अनके नदियाँ मिट्‌टी नाले आदि मिलकर इसके जल को दूषित कर देते है परन्तु सागर तक वह पवित्र गंगा ही कहलाती है। इसी प्रकार सामाजिक मान्यताएँ रस्म-रिवाज तथा मठ व सम्प्रदायों की अपनी सोच व नियम आदि सभी धर्म में मिल जाते हैं, जिससे धर्म का मूल स्वरूप बदल जाता है।

धर्म की मूल ज्ञान गंगा जो वेदों में प्रवाहित होती है उसमें वाह्‌य भौतिक जगत की कोई भी औपचारिकता की चर्चा नहीं हैं, **वहाँ सिर्फ़ सत्य अन्तर्जगत की ही बात कही गयी है।**

वेदों में वर्णन है कि इस धरती पर सृष्टि-यज्ञ द्वारा सर्वप्रथम निर्मित शरीर जो कि विशालकाय सरीसृपों (डायनासोर) थे उन्हें पृथ्वी माया (गुरूत्वाकर्षण) ने नष्ट कर दिया क्योंकि उन **विशालकाय जीवों के भीतर आत्म-यज्ञ (सृष्टि-यज्ञ) की व्यवस्था नहीं थी जिसके कारण उनमें प्रजनन शक्ति का अभाव था, इसी कारण यह प्रजाति विलुप्त हो गई।** आगे जितने भी जीव, प्राणि धरती पर उतारे गये, प्रत्येक योनि के शरीर के भीतर ही आत्म-यज्ञ स्थापित किया गया ताकि प्रत्येक शरीर स्वयं ही नए शरीर को उत्पन्न कर सके, इस प्रकार आत्म-यज्ञ के द्वारा ही धरती पर जीवन स्थापित हो सका।

(72) धर्मोपपत्तेश्च ।।1 ।3 ।9 ।।

धर्मा: - धर्म की राह, धर्म का भाव, व्याख्या।

उप- आत्मा में व्याप्त होना, उसका वरण

अनुसरण तथा अनुपालन करना।

आत्मस्थ निमित्त भाव ही मूलधर्म है वाह्‌य समाज, जगत

सचराचर में अत्मा को ही धर्म मानकर आत्मस्थ भाव में जीना ही धर्म की सही व्याख्या है।

धर्म में व्याप्त जो उत्पत्ति का क्षण जो सृष्टि यज्ञ है वही आत्मा है। **जीव अपने में कोई सत्ता नही है।** धर्म का मूल उद्देश्य है स्वयं को जानना तथा आत्मा से जुड़कर जीना। वाह्य औपचारिकताओं से धर्म का कोई संबंध नहीं है। **धर्म व्यक्तिगत होता है।** जात-पात, भेदभाव, छुआछूत धर्म ने नहीं दिए है। समय के साथ समाज की व्यवस्थाएं बनाने के लिए धर्माचार्यों सम्प्रदायों आदि ने भेद-भाव की व्यवस्था कर दी जिसका विशुद्ध, मूल धर्म से कुछ भी लेना नहीं है।

धर्म तो आत्मा की बात करता है तथा उत्पत्ति के क्षण, सृष्टि का ज्ञान देता है उसका सूक्ष्म दर्शन है।

A Universal application of Truth is Dharma

जिसने स्वयं को नहीं जाना वह सचराचर की सेवा भी उचित तरीके से नहीं कर सकता है। हर व्यक्ति का धर्म उसके भीतर है यही वेदों, ब्रह्म-सूत्र का कथन है। हर व्यक्ति को अपना सत्य स्वयं खोजना होता है।

(73) अक्षरमम्बारान्त धृतेः ।।1 ।3 ।10 ।।

अक्षर - (अ - नहीं। क्षर - क्षरण हो जिसका) - अमर

अम्बारान्त - (अम्बर-आकाश), सचराचर, आकाश भी नहीं सीमा जिसकी तथा।

धृतेः- धारण करने वाला।

आत्मा ही सचराचर व्यापी है। धारण सृजन, संहार उसी में व्याप्त है। नहीं होता क्षरण (नाश) जिसका, जो सचराचर में असीम है, ऐसा आत्मा ही यज्ञ है। **सारे आकाश का अधिष्ठाता ऐसा आत्मा हम सबमें व्याप्त है।**

शरीर-जीवात्मा-आत्मा यह समीकरण है जीवन का। जीवन और जल आकाश (अंतरिक्ष) से धरती पर उतारे गये हैं, **किसी भी ग्रह पर जीवन स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाता है।** शरीर घर है जीवात्मा के लिए, जिसे

स्वयं आत्मा बनाता है तथा उसकी रक्षा करता है। जीवात्मा के पास जीवन की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं है। सभी जीवधारियों के शरीर रूपी रथ का संचालन आत्मा कृष्ण ही कर रहे है क्योंकि किसी को भी अपने शरीर की सांसों, धड़कनों आदि को चलाना नहीं आता है। जीव रूप हम सब इस शरीर रूपी घर में एक किरायेदार की ही भांति है। **प्रेत योनि में जीवात्मा के पास न तो आत्मा होती है और न ही शरीर।** आत्म अर्पित होकर ही हमें कर्म करना चाहिए। जो आत्मा से हटकर बाहर सत्ता, सहारा खोजता है वह एक पंगु का जीवन जीता है।

कर्म फल स्वतः ही आता है हमें आत्म-अर्पित होकर कर्म करना चाहिए तथा कर्मो के फल की इच्छा स्वयं नहीं करनी चाहिए। जैसा हम बीज डालेंगे, फसल उसी के अनुरूप होगी। इसे उदाहरण से समझते हैं कि एक किसान ने बहुत मेहनत व लगन से खेत तैयार किया और बीज लेकर खेत के पास गया और कहा कि हे! खेत मुझे अच्छी फसल देना। इस पर खेत ने कहा कि किसान यह सच है कि तूने बहुत मेहनत की है, परन्तु जैसा बीज होगा, फसल उसी प्रकार की होगी।

बीज है हमारा "स्वभाव"। हम चाहे जितनी भी पूजा भक्ति करें, परन्तु उसका **फल तो हमारे स्वभाव के अनुरूप ही मिलेगा।**

ज्ञान भी तभी लाभकारी व मोक्ष देने वाला है, जब वह आत्मा के संग है। परन्तु यही ज्ञान जब मन का संग करता है तो अहंकार व दंभ को प्राप्त हो जाता है। मन की चंचलताओं के कारण हमारी बुद्धि आसक्तियों व अतृप्तियों के वशीभूत हो जाता है और हमारा विनाश कर देती है। इसलिए गीता में भी भगवान ने कहा कि **"निर्ममो भव"** अर्थात हमें अपनी स्वयं की कमजोरियों को नजर अंदाज नही करना चाहिए, उसे निर्ममता पूर्वक दूर करने का प्रयास करना चाहिए, परन्तु दूसरों के साथ पूर्ण सहानुभूति के साथ व्यवहार करना चाहिए।

(74) सा च प्रशासनात्।।1।3।11।।

सा - वह, ऐसे, इस प्रकार

च - तथा

प्रशासनात्- करता शासन सम्पूर्ण सचराचर पर होकर सर्वव्यापी परमेश्वर अन्तर्यामी घट-घट वासी अर्थात् यज्ञ ही है।

'सा' माने जीव तथा ऐसे आत्मा के ही अनुशासन में जीव को जीना चाहिए। परन्तु हम जीते है मन के आधीन होकर। **मन अर्थात इन्द्र नपुसंक है** इसमें कुछ भी उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। जब आत्मा ही हम सबको उत्पन्न कर रहा है तो हमें भी आत्मा के अनुशासन में जो रहते हैं, वह सदा आनन्दित रहते हैं, तथा जो मन के अनुशासन में रहते हैं, उनके शरीर भी अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाते है तथा वे सदा दुःख, चिन्ता व भविष्य के भय में जीते है।

वाह्य सम्पूर्ण जगत असत्य है यहाँ तक कि हमारा शरीर, बौद्धिक ज्ञान मस्तिष्क आदि सभी चिता पर जल कर भस्म हो जाते है।

जब हमारे हाथ पैर भी नहीं थे, सत्ता, सामर्थ्य आदि कुछ भी नहीं था, यह अवस्था हमारी गर्भस्थ शिशु के रूप में तथा यही अवस्था शरीर के चिता पर भस्म हो जाने के उपरान्त होती है। तब हे**!** आत्मा, आपही हमें मृत्यु की गहरी निद्रा से आप ही हमें चैतन्य अवस्था में लाते हैं और यह हमारा दुर्भाग्य है कि 'स्व' जगत आत्मा की तरफ हमारा ध्यान जाता ही नहीं है। वेद में सृष्टि विज्ञान को बहुत महत्व दिया गया है। हम कौन है? हमारा जीवन का उद्देश्य क्या है? देव दुर्लभ योनि क्या हैं? यदि हम स्वयं को नहीं जानते है तो सदा दुःखी व भयभीत रहते हैं यही हमारे दुःखों का कारण है।

(75) अन्यभावव्यावृत्तेश्च।।1 ।3 ।12।।

अन्य भाव से भी आत्मा (ऋतेः च) यज्ञ के रूप में सर्वत्र देहधारियों में उत्पत्ति तथा नाना वृत्तियों को प्रकट करता है।

अन्य प्रकार से सभी प्रकार से **अमर आत्मा (अक्षर)** को ही उत्पत्ति का आधार कहा गया है। हर देह यज्ञशाला है और आत्मा ही बीज है। उत्पत्ति आत्म-यज्ञ से ही होती है।

(76) ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः।।1 ।3 ।13।।

ईक्ष (ईश-ईश्वर, आत्मा यज्ञ, (इति)

इस प्रकार (कर्मव्यपदेशात्) आत्मा की भांति सम्पूर्ण सचराचर के निरन्तर निष्काम कर्म में व्याप्त होकर (सः) जीव, जीवात्मा को यथा भाव कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

जिस प्रकार **आत्म-यज्ञ सचराचर में व्याप्त** होकर कर्म द्वारा सबका पालन, धारण, सब कुछ इच्छारहित निष्काम भाव से करता है, उसी प्रकार जीव मात्र भी आत्म-निमित्त होकर कर्म करें।

कर्म का अनुकरण आत्मवत् होना चाहिए। जैसे आत्मा पूर्ण निष्काम भाव से निरन्तर जीवन को उत्पन्न कर रहा है तथा उनका पालन और प्रलय कर पुनः नूतन जीवन उत्पन्न कर रहा है यही कर्म का भाव हमें भी अपने जीवन में उतारना चाहिए।

ब्रह्म (आत्मा) जब कोई भेद-भाव नहीं करता तथा प्रकृति में भी कोई भेद नही है तो हमें आत्मा की ही भांति अभेद होकर जीवन जीना चाहिए।

(77) दहर उत्तरेभ्यः।।1।3।14।।

दहर- सूक्ष्मातीसूक्ष्म जिसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। आँखों से देखना अथवा कानों से सुनना संभव ही नहीं। जो रूप रस गंध स्पर्श शब्द से भी जाना नहीं जा सकता।

उत्तरेभ्यः वही सर्वव्यापी अन्तर्यामी आत्मा ही ईश्वर है। उसे ही सृष्टा कहा गया हैं उसे केवल अपने भीतर अतीन्द्रिय रूप से पाया जा सकता है।

दहर जो सूक्ष्मातीसूक्ष्म जिसे देखा न जा सके, जो रूप, रस, गंध स्पर्श से भी नही जाना जा सके,, वह आत्मा ही सूक्ष्म होकर हम सबमें समाया है। वही हमारे सारे उत्तर देता है। **उसी को हमें जानना है।**

इसे और स्पष्ट करते है कि **दहर जो है पर जाना नहीं जा सकता** आत्मा ही हमारे जीवन के समुचित उत्तर देता है, वही सृष्टा है जो हम सबमें व्याप्त है।

स्त्री पुरूष का भेद वाह्य जगत के आडम्बर भर हैं, सत्य नहीं है। एक आत्मा ही सत्य हैं **आत्मा में लिंग भेद नहीं होता है। भेद से रहित**

अभेद होकर जीना ही आत्म-तत्व को पाना है। जगत की नाट्यषाला के भेद सत्य नहीं है।

(78) गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंग च।।1 ।3 ।15 ।।

गति - अर्थात् समय काल की सीमा से परे। शब्दों की व्याख्या से दूर तथा।

दृष्टं - दुष्टि द्वारा ग्राहय नहीं।

लिंग- जिसकी प्रतीक पहचान भी संभव नहीं ऐसा (दहर) सूक्ष्म आत्मा ही सृष्टा ईश्वर है जो घट-घट वासी है।

आत्मा से हटकर हमारी कोई गति (उद्धार) नहीं है। **हमें अन्तिम रूप से आत्मा (ब्रह्म) से जुड़ना चाहिए।** वेद की ऋग्वेद प्रथम मण्डल मधुच्छन्दा ऋषि के षष्ठम सूक्त की प्रथम ऋचाः।

'युञ्जन्ति ब्रध्नमरूषं चरन्तं परितस्थुषः।

रोचन्ते रोचना दिवि '' ।।1 ।1 ।6 ।।

"योग करे ब्रह्म ज्योतिर्मय से। गतियों का व्यापक स्वामी है पर स्थिर है। ज्योतियों का ज्योति है और नित्य है।

(युञ्जन्ति) योग करे, जुड़ जाये, मिल जाये।

(ब्रध्नम्) ब्रम्ह से, आत्मा से।

(अरूषम्) ज्योतिर्मय, उज्जवल। (चरन्तम) हर ओर गतिमान है, गति प्रदान करने वाला है, चलाने वाला है। (परितस्थुषः) व्यापकता से स्थिर है। **(रोचन्ते) ज्योतियों का भी ज्योति है** (रोचना दिवि) सम्पूर्ण गगन को, सचराचर को जीवन ज्योतियों से परिपूर्ण करने वाला है। **नित्य है।**

आओ योग करें, जुड़ जाये **अपनी ही आत्मा अनन्त से।** डूब जायें आत्मा रूपी सागर में उस आत्मा रूपी, ब्रह्म रूपी परमेश्वर को जाने जो घट-घट वासी है **(अथातो ब्रह्म जिज्ञासा)**

आत्मा हम सबमें व्याप्त है। जो हमें तथा हमारे जीवन को गतिमान करने वाला है **प्रत्येक गति में स्वयं स्थिर है, अर्थात नित्य हो गया है।** जो हमारे अन्तर का प्रकाश है, जो हमारे नेत्रों की ज्योति है। जो सम्पूर्ण सचराचर को ज्योतिर्मय बनाने वाला है। ऐसे अनन्त आत्मा से योग करें। **अपनी ही अन्तरात्मा से जुड़कर एक हो जायें। स्वयं से अद्वैत करें।**

आत्मा ही गतियों को प्रदान करने वाला है तथा स्वयं प्रत्येक गति में स्थिर है। इसे स्पष्ट करते है, मिट्टी को अन्न, फल में तथा अन्न आदि को जीवन की गति प्रदान करने वाला आत्मा ही तो है। **मनुष्य को बाल्यावस्था , युवावस्था, प्रौढ़ावस्था की गति को प्रदान वाला भी स्वयं, आत्मा ही है। हर ओर सभी गतियों में सबसे आगे गया हुआ आत्मा ही तो है। आत्मा के बिना सचराचर अथवा जीवन की कल्पना का क्या प्रयोजन? सबको गति देकर भी अनन्त आत्मा स्वयं स्थिर है।** शरीर ही बाल्यावस्था, युवावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है। आत्मा अजर अमर है, इसलिए प्रत्येक गति को जीवन्त करने वाला आत्मा ही है ।

सम्पूर्ण रोशनियों को ज्योतिर्मय बनाने वाला तथा प्रत्येक ज्योति का जनक भी आत्मा ही है यदि आत्मा रूपी सूर्य देह रूपी देवालय से हट जाये तो मृत ऑखों को कोई भी व्यक्ति प्रकाश, रोशनी नहीं दे सकता है। आत्मा रूपी प्रकाश के हटते ही हम मृत्यु के अंधेरों में खो जाते है। इसीलिए आत्मा सभी प्रकाशों का भी प्रकाश है। आत्मा से रहित ऑखें ज्योतिर्मय आकाश को भी अंधेरा कर देती है। **आत्मा ही जीवन हैं आत्मा ही गति है तथा आत्मा ही गन्तव्य है। आत्मा से ऐसे जुड़ो कि कभी वियोग न हो।**

(79) धुतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।।1 ।3 ।16 ।।

(धृतेश्च) तथा वह (दहर, आत्मा,यज्ञ) ही सचराचर को एवं देह मात्र को धारण करने वाला है।

(महिम्नो) उसकी महिमा को सभी धर्मग्रंथों ने गाया है।

(अस्य) ऐसे (अस्मिन) इस भांति।

(उपलब्धि) हर ओर सर्वत्र आदि काल से सबके द्वारा ग्रहण किया गया है।

(अनु) उसका अनुसरण करना ही सत्य धर्म है।

सचराचर को जिसने धारण किया हुआ है, ऐसे ब्रह्म को तथा **उसी की महिमा को अपने भीतर अपने विचारों में उभारते हुये उसी में सदा डूब कर जीना ही धर्म है। आत्म ज्ञान को पाना और उसी को अपने जीवन की राह बना लेना ही धर्म है।**

प्राणिमात्र का एक ही धर्म है **"अपने सत्य को जानकर उसी में स्थिर हो जाना।"** जिस प्रकार स्नान करने से प्यास नहीं बुझती है जब तक हम जल न पीयें इसी प्रकार आत्मा में स्थिर होना ही अमृत पान करना है।

यह जीवन एक विश्वविद्यालय है, इसमें एक ही कक्षा प्राइमरी में सारी उम्र बिता देना कोई समझदारी नहीं है। **जो आत्मा को नहीं जानते है वह अधर्म को ही धर्म मानकर पाप करते है।**

(80) प्रसिद्धेश्च।।1।3।17।।

(प्र) प्रमुख, प्रकाशित हुआ कि (दहर) आत्मा ही सृष्टि का मूल है तथा (च) **आत्माद्वैत ही जीवन का परम लक्ष्य** है।

इस सूत्र को हमें पूर्व सूत्रों के संदर्भ में देखना चाहिए कि **दहर उत्तरेभ्यः** वह जो सबको उत्पन्न करने वाला वह जो **दहर सूक्ष्मातीसूक्ष्म** है जो परमाणु में भी समाया है और सारे ब्रह्माण्ड उसी में व्याप्त होते हैं और कोई उसकी महिमा को नहीं पाता, ऐसा इन्द्रियातीत दहर ही आत्मा है। अपनी आत्मा को जानना जो हम सबको धारण करता है। प्रसिद्धेश्च सारे सद्ग्रंथों, श्रुतियों, स्मृतियों, सृष्टि विज्ञान के ग्रंथों में उसी आत्मा को ही प्रमुख रूप से जगत का कारण माना गया है।

जो भीतर आत्मा में गया भी नही, जिसने अंतर में प्रभु के दर्शन कभी किए ही नहीं तो उनके मन में प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न ही नहीं होगा। **वह सिर्फ दिखावा भक्ति करते है। अपनी मनोकामनाओं, अतृप्तियों की पूर्ति के लिए और सारा जीवन इसी भ्रम में जीते हैं कि वे प्रभु भक्ति कर रहे है।** हमारी सारी भौतिक उपलब्धियाँ यही रह जाती है और इस भ्रम के कारण हम अपने पूर्व के भी संचित शुभ कर्मो तथा तप साधना के पुण्यों को भी गवां बैठते हैं। दाता का पुत्र माँगे भीख यह तो अपने पिता परमेश्वर का अपमान करना हुआ।

(81) इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात्।।1।3।18।।

इतर- इससे (दहर-आत्मा) से हटकर कोई भी विचार परामर्श आदि

इति- इसके उपरान्त।

न- नहीं है।

इससे विपरीत धर्म की व्याख्या (असम्भवात्) असम्भव है।

आत्मा ही यज्ञ परमेश्वर घट-घट वासी सचराचर का नियन्ता कारण है। आत्मा के सदृश्य आत्मा का ही निमित्त धर्म है।

जैसा पहिले कहा गया है कि आत्मा ही सत्य है। आत्मा ही घट-घट वासी है वही दहर (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) होकर हम सबमें समाया हुआ है। इससे हटकर ईश्वर की कोई कल्पना नहीं है तथा इससे हटकर कोई **मोक्ष** भी नहीं होता है।

सनातन धर्म तथा उसके सभी ग्रंथ (पुराण, वेद, आदि) ईश्वर को घट-घट वासी मानते है। इसमें एक रहस्य है कि **"सृष्टि है कहाँ" सृष्टा है जहाँ!** वह सृष्टि हम सबके भीतर है, अगर सृष्टा (आत्मा) हममें नहीं है तो फिर माँ के गर्भ में बालक कैसे बनता है? क्योंकि किसी भी माता-पिता को शरीर को एक कोश भी बनाना नही आता है।

हम अपने अंतर में ईश्वर का वास नहीं मानते हैं तभी तो हम पाप कर्मो में लिप्त हो जाते है सनातन धर्म ने हर व्यक्ति को उसकी अंतरात्मा से जोड़ना चाहा है। हम किसी भी व्यक्ति को सुधार नहीं सकते है वह तभी सुधर सकता है जब स्वयं उसके अंतर से सुधरने की प्रेरणा मिलती है। **अपनी अंतररात्मा से जुड़ने पर ही व्यक्ति पवित्र होता है।**

जो योग्य होगा, उसी का उद्धार होगा। जो पूरा ईमानदारी से जीवन जीते है उन्ही का उद्धार होता है। जीव मात्र का उद्धारक हम सबके भीतर बैठा है। ऐसा दृश्य मनोहर कमनीय जो हमारा अंतरात्मा है, सत्य है,वह हमारे भीतर है।

वेद की ऋचाओं में एक मुहावरा है **"श्येनो न भीतो अत्तरो रजांसि"** ऋग्वेद। हिरण्यस्तूप आंगीरस। 2 सूक्त, 14 ऋचा । अर्थ है (श्येनों) बाज अर्थात **पीछा करती मृत्यु का भय (न) नहीं है उसको (भीतो) वह डरता नहीं है, (अत्तरो रजासि) जो यज्ञ (आत्मा) की शरण पा** गया। मृत्यु का भय कैसा? जो हो गया आत्मा की शरण में । आत्मा से अद्वैत करने वाले को मृत्यु का भय नहीं होता है। **जो अमर आत्मा से जुड़ जाता है वही**

अमरत्व (मोक्ष) पाता है।

(82) उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु।।1।3।19।।

(उत्तराचेत्) प्रकट सत्य स्वरूप चैतन्य, निर्णय

(आविर्भूतस्वरूपपरस्त) आविर्भुत स्पष्ट स्वरूप में स्थापित हुआ है कि आत्मा ही नियन्ता जनक कारण तथा उत्पत्ति कर्ता एवं प्रलय को प्रदान करने वाला (दहर) घट-घट वासी है। उसमें स्थापित होना ही जीवन तप की सार्थकता है एवं **मोक्ष का मार्ग भी मात्र वही है।**

हमारे सारे उत्तर इस जीवन के, सारे रहस्य ज्ञान और विज्ञान, वह सत्य जो चैतन्य है और सर्वत्र व्याप्त है और जो सबमें स्थित आत्मा है वही मात्र सत्य है।

वाह्य जगत निमित्त जगत है, भ्रम है, जैसे चक्राकार घूमते हुए चक्र को हम बाहर से देखें तो लगेगा कि कोई प्रगट हो रहा है फिर लोप हो जता है। जो लोप हो जाता है वह फिर प्रगट हो जाता है । परन्तु **जो चक्र के स्तंभ पर विराज जाए** तो उसे यह भ्रम नहीं होगा वहाँ न तो कोई लोप हो रहा है और न ही प्रगट।

उत्पत्ति का क्षण तो हमारे भीतर है और हम बाहर ही भटक रहे है और हर क्षण श्मशान (मृत्यु) के करीब ही होते है। **मोक्ष भीतर है और मृत्यु बाहर खड़ी है।** यह निर्णय हमें करना है कि हम भीतर जायें या बाहर भटके।

(83) अन्यर्थश्च परामर्श।।1।3।20।।

(अन्यार्थश्च) अन्य अर्थों प्रकरणों में भी यही (परामर्श) प्रदान किया गया है। पुराणों लीलाग्रंथों में भी आत्मा को श्री राम, श्री कृष्ण, ब्रह्मा + विष्णु + महेश ॐ आदि संज्ञा प्रदान की गई हैं। **आत्मा ही सर्वत्र प्रत्येक जीवधारी में लीलावतार के रूप में नित्य प्रकट हैं। आत्मा ही यज्ञ तथा नव दुर्गाओं के रूप में लीलाओ में प्रकट हुआ है।**

अन्य स्थानों पर भी यही परामर्श है कि आत्मा ही यज्ञ का

अधिष्ठित देव है। आत्मा ही मूल यज्ञ है जो सचराचर में व्याप्त है। आत्मा ही जगत रूपी लीला मंच का लीलावतार है। **श्री राम, कृष्ण आदि सभी आत्मा के नाम है। इसे कभी नहीं भूलना चाहिए।**

ब्रह्म-सूत्रों में जीवन का अमूल्य ज्ञान निहित है, जो भेद-भाव से रहित है, वही सच्चा ज्ञानी है। वाह्य आडम्बर से व्यक्ति की समाज में एक पहचान बनती है, परन्तु वह उसकी असली पहचान नहीं है। एक ही जाति गोत्र है वह है आत्मा।

(84) अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम।।1 ।3 ।21 ।।

अल्प, श्रुतः, इति, च, इत्, तत- उक्तम्।

सूक्ष्म (दहर) सुना गया है ऐसे तथा वही उक्तियों एवं सूक्तियों में प्रकट हुआ है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म (परंब्रह्म) है तथा सम्पूर्ण सचराचर मिल कर भी नहीं भर पाते उसे। वह परम ब्रह्म (ब्रह्माण्डों से भी व्यापक) है। वही आत्मा-यज्ञ के रूप में सभी देहों में व्याप्त ईश्वर है।

वह जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है जिसे जाना नहीं जा सकता है परन्तु जिसे अल्पज्ञ भी जानता है, जैसे समस्त जीव जन्तु, पक्षी सचराचर आदि ईश्वर पर ही निर्भर हो कर जीते है। **सभी जीवों को, मनुष्यों को छोड़कर, ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है कि ईश्वर उनका भरण-पोषण करेगा।** कोई भी पशु पक्षी आदि अपना तथा अपने बच्चों के भविष्य आदि की चिन्ता नहीं करता है तथा मृत्यु को भी सहज हो कर वरण करते हैं। **वह मृत्यु के भय में नहीं जीतें हैं,** परन्तु मनुष्य सदा अपनों के भविष्य की चिन्ता में रहता है। मृत्यु का भय सदा बना रहता है और **उपर से दंभ भी भरता है कि वही सबसे समझदार और सही तरीके से जीवन जी रहा है ।**

भौतिक इच्छाओं आसक्तियों के कारण **हम सब यह तो जानना चाहते है कि हमारे लिए क्या है? परन्तु हम स्वयं क्या है? यह जानने की हमारी जिज्ञासा नहीं होती है। मृत्यु का भय, मृत्यु को ईश्वर से भी ज्यादा महत्वपूर्ण बना देता है, परन्तु जो अपने अंतर में आत्मा से जुड़**

जाते हैं, उन्हें फिर मृत्यु का भय नहीं रहता। आत्मा ही हमें आवागमन के चक्र से मुक्त करता है।

यह एक विलक्षण विडम्बना है कि ईश्वर तो आत्मा होकर हमारे भीतर है, परन्तु हम ईश्वर में नहीं है। हम अपने भीतर कैसे जाएँ? इसी समस्या के समाधान के लिए सनातन धर्म में मूर्तिपूजा का विधान रखा गया है। ईश्वर के किसी भी रूप में पूर्ण श्रद्धा और समर्पण के साथ जब हम अपने मन को जोड़ देते हैं तो वही रूप हमें हमारे भीतर आत्मा से जोड़ता हैं। मूर्तिपूजा मानव मनोविज्ञान का उन्नत शिखर है ।

(85) अनुकृतेस्तस्य च।।1 ।3 ।22।।

हम सब आत्मा की अनुकृति हैं। तथा आत्मस्थ होकर आत्मा के निमित्त होकर तथा उनकी अनुकृति (प्रतिरूप) होकर संसार जीना ही उत्तम धर्म है।

हम सब प्रभु की बनाई हुई अनुकृतियाँ हैं प्रभु का ही रूप है। जब ईश्वर ने ही हम सबको बनाया है तो फिर हम पाप कर्म, झूठ, फरेब इत्यादि क्यों करते है। ईश्वर को ही जीवन की राह में धारण करें। यह बहुत ही सुन्दर सूत्र है।

वाह्य जगत एक नाट्यशला है। जब हम शरीर के एक कोश कोभी नहीं बना सकते हैं तो फिर विधाता बनने का ढोंग क्यों करते है? स्वयं परमेश्वर ने जब इस शरीर को बनाया है तो फिर इससे पवित्र मंदिर या देवालय और क्या हो सकता है।

यदि हमारी धर्म में आस्था है तो फिर ईश्वर की ही प्रतिकृति बनकर जीना चाहिए।

(86) अपि च स्मर्यते।।1 ।3 ।23।।

स्मृतियों का विलोया सत्य है यह। स्मृतियों ने भी आत्मानुसरण को सार्थक जीवन की राह बताया है तथा सदा उनका स्मरण करें। कभी भी उसे जगत व्यवहार में भी भूले नहीं।

योगी की राह भीतर की होती है। **बाहर संसार एक बाजार है**

जहाँ किसी की भावनाओं की कोई कद्र नहीं है। बैकुण्ड हमारे भीतर है। जिसने कुण्ठाओं का परित्याग किया उसी ने बैकुण्ठ पाया। हम सब अतीत की पीड़ाओं का स्मरण कर सदा दुःखी रहते है, वही नरक जीना है।

इसे सदा स्मरण रखें कि हम सब नारायण की अनुकृति हैं। हमें ईश्वर जैसा ही बनकर जीना है। इसे सदा स्मरण रखो। सारे ग्रंथ, श्रुतियाँ यही कहते हैं कि हमें सदा आत्मा में ही जीना है।

वेद के ऋषियों ने भी परमेश्वर से प्रार्थना की कि भौतिकता, धन के पीछे भागती हमारी मनोवृत्तियों को है हे आत्मा**!** हे यज्ञ**!** नष्ट करो। ईश्वर के हाथों दिया हुआ आयु का प्रसाद हमने दुःख, क्लेश, गंदे विचारों में बरबाद किया है। इस माया धन के लिए हमारा अपनों पर ही विश्वास नहीं है। पाप की अन्तिम अवस्था है यह। हमारे भटकाव खत्म हों और एक ही आत्मा में हमारा विश्वास हो। **धन की अधिकता विष के समान है।** आज हम ईश्वर को नहीं माया को भजते है। हम आज विष चाहते हैं इन्द्रियों के विषयों का परन्तु आत्मा का अमृत नहीं।

(87) शब्दादेव प्रमितः ।।1 ।3 ।24 ।।

शब्दात्, एव, प्रमितः

उपरोक्त सूत्रों के शब्द संदर्भो से इस भांति स्पष्ट है कि इनसे परमात्मा, यज्ञ, ईश्वर, घट-घट वासी आत्मा ही (प्रमित) परिमार्जित होता है। इन शब्दों से आत्मा की सूक्ष्मता एंव व्यापकता परिमार्जित होती है।

जो कुछ भी कहा गया है वह आत्मा की स्व जगत और निमित्त जगत की सम्पूर्ण व्याख्या है। हम व्यवहार जगत में इसके बिल्कुल विपरीत जीते है। भौतिकताओं में आसक्त होकर जीना वास्तव में अमृत तुल्य अपनी उम्र (आयु) के क्षणों को तबाह करना है। मन को सदा सत्संग में रखने से हम वाह्य जगत में लोभ, पीड़ा, मोह आदि से बचे रहेंगे।

भक्ति जीवन का अमृत है, यह अतिशय निर्मल पवित्र धारा है। भौतिक आसक्ति, विषयान्धताओं के साथ कभी भी ईश्वर की भक्ति नहीं हो सकती है, हमें निरन्तर देखना चाहिए कि हम कहाँ जा रहे हैं, क्योंकि हर

क्षण हमें श्मशान(मृत्यु) के करीब ले जा रहा है। हमें भी नहीं भूलना चाहिए कि जिस माया से हम लड़ना चाहते है, वह अतिबलशाली है। हम सब न तो धन, ऐवश्र्य या भौतिकताओं को भोगते है, हम सब सिर्फ ईश्वर के द्वारा दी गई आयु के क्षणों को भोगते है। और जब उम्र के क्षण खत्म हो जाते हैं तो मर जाते हैं। इसलिए बहुत ही सावधान होकर जीना चाहिए।

(88) हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्। ।।1 ।3 ।25 ।।

हदि, अपेक्षया, तु, मनुष्य, अधिकारात्।

हृदय में ही आत्मा का वास है। यही वह मनुष्य का अधिकार क्षेत्र है प्रभु मिलन हेतु। ईश्वर को देह के भीतर हृदय (शरीर रूपी गुहा) में योगस्थ अद्वैत करे।

हृदय में उसकी अपेक्षा करें न कि विषयों में लिप्त हों। **अध्यात्म में हृदय का तात्पर्य होता है सम्पूर्ण शरीर रूपी गुहा इसे मात्र शरीर का एक अंग हृदया (दिल) नही समझना चाहिए।** ईश्वर को अपने से दूर नहीं करना चाहिए वह घट-घट वासी है। ईश्वर को पाने का अधिकार भीतर अंतरात्मा में है।

प्रकृति के नियम अकाट्य अटल होते है, उन्हें किसी परिस्थितियों में बदला नहीं जा सकता है। ईश्वर का सत्य प्रकृति में प्रकट होता है। सचराचर प्रकृति ही वह ईश्वरीर ग्रंथ है जिसे स्वयं प्रभु अपने हाथों से नित्य निरन्तर लिखते है। उसी प्रकृति रूपी ग्रंथ के हम सब भी अक्षर है। वेद आदि ग्रंथ इसी प्रकृति रूपी ग्रंथ के भाष्य ग्रंथ है।

भौतिक इच्छाओं अतृप्तियों, विषय-वासनाओं के साथ कभी भी प्रभु भक्ति नहीं हो सकती है। ईश्वर परम पवित्र तथा अतिशय निर्मल है। ईश्वर से मिलने के लिए हमें भी ईश्वर के सदृश्य ही अतिशय निर्मल व पवित्र होना होगा, यही प्रकृति का नियम है।

(89) तदुपर्यपि बादरायाणः सम्भवात्। ।।1 ।3 ।26 ।।

तदुपर्य, अपि, बादरायण, सम्भवात्।

तद्धपि बादरायण (वेद व्यास) ने भी इसी सत्य को **सम्भव अर्थात मानव सुलभ** माना है। अपनी रहस्य लीलाओं पुराणों एवं कथाओं में मूर्ति में अपने प्राणों को अंतिम समर्पण भाव से अप्रिय कर इस मूर्ति को पुनः आत्मा में अन्तः मुखी हो स्थापित कर योगस्थ होना ही मार्ग है।

बादरि- बेर, रेशम, सूत तथा दक्षिणवर्ती शंख।

बादरायण - वेद-व्यास का नाम।

बादरायणि- शुकदेव।

तदुपरान्त इसके अलावा भी भगवान वेद-व्यास ने अपनी लीला-कथाओं, काव्यों में स्वयं वेद-व्यास ने इसी मार्ग (मूर्तिपूजा) को मानवों के लिए भक्ति का सुलभ मार्ग बताया है तथा इसी का अनुमोदन किया है। मूर्ति के द्वारा ही हम अपने भटकते मन को एकाग्र कर अपनी आत्मा में प्रवेश पा सकते है।

ईश्वर के सभी रूपों में विशेषकर बाल छवि का विशेष रूप से ध्यान करने पर बाल रूप की स्वभाविक कोमलता व भोलापन हमारे भावों में आ जाता है जिससे हम आत्मा (ईश्वर) के करीब स्वाभाविक रूप से आ जाते है। मूर्ति में जब भक्तगण पूर्ण श्रद्धा व समपर्ण से अपने प्राणों को प्रतिष्ठित करते हैं तभी मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठित होती है।

निर्गुण निराकार ईश्वर को सगुण साकार रूप में जीवन्त करना ही भक्ति का चमत्कार है।

(90) विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्।।1।3।27।।

विरोधः, कर्मणा, इति, च,न, एनान् एक, प्रति, पत्ते, दर्शनात्

गुण कर्म के विरोध भेद नहीं है तथा एक आत्मा ही सर्व प्रति उत्पत्ति प्रलय आदि का कर्त्ता, धर्ता तथा सम्पूर्ण गुण कर्म का प्रदाता एवं धारण करने वाला है। सर्वव्यापी है। एक होकर भी अनेक तथा अनेक होकर भी एक है, यही सत्य दर्शन है।

विपरीत परिस्थितियों से भी कर्म के भेद-भाव को लेकर भी तथा

अनेक प्रकार से व्याख्या होने पर भी जो दर्शन है वह बदलता नहीं है।

अक्सर लोग यह कुतर्क करते हैं कि जब ईश्वर घट-घट वासी हैं तो बुरे लोग क्यों हैं? इन तर्कों का कोई अर्थ नहीं हैं। **ईश्वर आत्मा ने प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि की स्तंतत्रता प्रदान की है।** मनुष्य के अलावा अन्य योनियों में सभी जीव अतीन्द्रिय ज्ञान ब्रह्मरन्ध्र (पीनियल बाड़ी) की सक्रियता से सीधे ईश्वर (आत्मा) द्वारा प्रेरित एवं संचालित होते है। चौरासी लाख योनियॉ जीव के पढाने के लिए जीवन रूपी पाठशाला की कक्षाएँ हैं, जहॉ स्वयं ईश्वर आत्मा होकर जीव को जीवन निष्काम एवं इच्छारहित होकर कैसे जीना चाहिए यह सिखलाता है। मनुष्य की योनि परीक्षा की योनि है, जहॉ स्वयं ईश्वर (आत्मा) परीक्षक है जो हमें शरीर रूपी उत्तर पुस्तिका देता है और परिस्थितियों का प्रश्न पत्र लाता है। **अगर हम सभी परिस्थितियों में निष्काम एंव इच्छारहित रहते है तभी उत्तीर्ण होंगे,** अन्यथा फिर योनियों में दोबारा पढ़ने जाना पड़ेगा। इस संसार रूपी मायाओं के महासमर, महाभारत को प्रत्येक जीव (अर्जुन) को स्वयं ही लड़ना होगा आत्मा होकर ईश्वर हमारे इस शरीर रूपी रथ का सिर्फ संचालन करते है।

(91) शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुभानाभ्याम्।।1।3।28।।

शब्द, इति,च, एन, प्र, भवात्, प्रत्यक्ष, अनुमानाभ्याम्।

उपदेश, प्रवचन आदि ऋषियों के द्वारा ऐसा ही है, अतः अमर उत्पत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण वेदादि तथा अनुमान (स्मृति आदि ग्रंथो में भी स्पष्ट कहा गया है) आत्मा ही यज्ञ ईश्वर तथा सम्पूर्ण कर्मादिक का कर्त्ता, धर्त्ता, परमेश्वर है। आत्मा-योग में ही उद्धार संभव है। शब्द कहते हैं दिव्य वचन, प्रवचन, सद्वाणी, सद्ग्रंथ आदि में जितने भी शब्द हैं तथा जो कुछ कहा गया है अथवा नहीं कहा गया है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण (वेद) अनुमान (स्मृतियों) में भी जो कुछ भी कहा गया है कि ईश्वर होकर हम सबके भीतर वास करता है। जो आत्मा से योग कर गया उसी का तप सार्थक है। ईश्वर को अपने से अलग मानना, सप्त लोकों की कल्पना व्यर्थ है, यह हमें अपनी

आत्मा ईश्वर से दूर भटका ले जाती है। **सारे लोक, समस्त ब्रह्माण्ड हमारे भीतर है।** हमें अपनी आत्मा में ही मिलना है यही योग है। जिसका मन **आत्मा के साथ जुड़कर स्वतंत्र नहीं हुआ वह अधम स्तर का विषयों का गुलाम है।** हम स्वयं को स्वतंत्र मानते है परन्तु हम यह भूल जाते है कि हम आज भी अपनी असुर मनोवृत्तियों के गुलाम हैं। धर्म के नियम प्रकृति के नियमन होते है। वे अटल होते है। उन्हें अपनी सुविधानुसार बदला नहीं जा सकता है क्यों कि "Human wisdom can always get confused, but nature can not" **(मानव बुद्धि सदा भ्रमित हो सकती है, परन्तु प्रकृति कभी नहीं)** इसलिए सत्य को सदैव तर्क और प्रमाण की कसौटी पर प्रकृति में ही परखा जाता है तभी वह ग्राह्य है अन्यथा नहीं। वेदों को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है क्योंकि वेद हमें सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं। वेदों ने प्रकृति को ही मूल धर्मग्रंथ माना हैं। जिसे स्वयं परमेश्वर आत्मा नित्य निरन्तर लिखते हैं। जिसके सभी जीव, जन्तु सचराचर तथा मनुष्य एक अक्षर है।

"अन्ति सन्तं न जहयाति अन्ति सन्तं न पश्यति।"
देवस्य पश्य काव्यं न मर्मार न जीर्यते।।

।। अर्थवेद ।10 काण्ड ।8 ।32 ।।

मृत्यु ही अन्तिम सत्य है ऐसा सन्त ऋषि नहीं मानते हैं। वह धर्मग्रंथ कैसा जो नष्ट हो जाये। धर्मग्रंथ कोई मरे हुए अक्षर या किताब नहीं हो सकता है। "देवस्य पश्य काव्यं, न मर्मार न जीर्यते" देखो **!** ईश्वर का काव्य अर्थात रचना, इस प्रकृति को देखो जो न कभी मरती है औ न ही जीर्णता को कभी प्राप्त होती है, पुनः जीवन्त हा उठती है यही मूल धर्मग्रंथ है, आत्मा, यज्ञ ही इस प्रकृति रूपी धर्मग्रंथ का लेखक है। वेदशास्त्र, आरण्यक, उपनिषद, पुराण आदि समस्त ग्रंथ इसी प्रकृति रूपी मूल धर्मग्रंथ के भाष्य ग्रंथ है। इसे अच्छी तरह से स्पष्ट कर लेना चाहिए कि **ईश्वर द्वारा रचित अक्षर किसी मरे हुए भोज पत्र अथवा पुस्तकों में नहीं होता है।** वेद

ने माना कि वे परमेश्वर के द्वारा आध्यात्मिक विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम के रूप में प्रकट हुए है। जिस प्रकार विभिन्न कक्षाएँ विश्वविद्यालय में होती है। तथा उनके विभिन्न पाठ्य-क्रम होते है। उसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ आध्यात्मिक विश्वविद्यालय की पाठ्य पुस्तकों के समान है जब कि मूलधर्म ग्रंथ प्रकृति एक ही है। वह धर्मग्रंथ भोज-पत्रों अथवा पुस्तकों के रूप में नहीं है।" सम्पूर्ण प्रकृति ही परमेश्वर द्वारा लिखा जा रहा निरन्तर धर्मग्रंथ है तथा समस्त जीव मात्र एवं जीवन्त पेड़-पौधे उसके अक्षर है। **मनुष्य भी इसी क्रम में इसी प्रकृति रूपी मूल धर्मग्रंथ का एक अक्षर है जिसे स्वयं परमेश्वर आत्मा होकर प्रतिक्षण लिख रहे है।** सम्पूर्ण विश्वविद्यालय का मूल उद्देश्य मनुष्य की मानसिकता को पूर्ण परिपक्वता प्रदान कर ऋषि के स्तर तक लाने में है। जिससे वह इस मूल ग्रंथ अर्थात प्रकृति को स्वयं आत्मस्थ होकर ग्रहण कर सके। **इसीलिए सनातन धर्म में व्यक्ति पूजा को महत्व नहीं दिया गया गया है।** प्रकृति को मूल धर्मग्रंथ माना गया है तथा धर्म को तर्क शास्त्र (प्रकृति प्रमाण) की कसौटियों से वरद् किया गया है। अन्य धर्मों में तर्कहीन संदेहरहित पशुवत आचरण को धर्म की राह माना गया है। इस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति विदेशी धर्मो से अलग स्थाना आस्था तथा मान्यता को ग्रहण करती है।

(92) अत एव च नित्यत्वम्।।1 ।3 ।29।।

अतः इस भान्ति भी आत्मा में ही नित्य अमर राह की कल्पना है। आत्माद्वैत ही इकलौता मार्ग है। वेद तथा ब्रह्म-सूत्र सूत्रात्मक भाषा है इसलिए जो भी शब्द जहाँ भी कहे गये है सबका अन्तर्निहित भाव यही है कि **आत्मस्थ होकर ही नित्य अमर अवस्था पायी जाती है।** जीवन की उत्पत्ति सत्य आत्म जगत में ही होती है। वाह्य निमित जगत में नहीं जो वाह्य जगत को ही सत्य मान लेते है वह सदा के लिए भटक जाते है।

(93) समाननामरूपत्वाच्चावृतावप्य विरोधो दर्शनात्स्मृतेश्य ।।1 ।3 ।30।।

समान, नाम, रूपत्वा, च, आवृता, अपि, विरोधो, दर्शनात्, स्मृतेश्च।।

नित्य निरन्तर आत्मा आराध्य के रूप में एवं नाम तथा समर्पण, अर्पण में व्याप्त सभी प्रकार के (भौतिक) अवरोधों से मुक्त होकर आत्म -यज्ञ में ही व्याप्त अद्वैत होना जीवन का मात्र लक्ष्य है। वेदादिक प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुमानादिक स्मृति ग्रंथों का निर्णय मानना चाहिए। उसमें किसी भी प्रकार का विरोधाभास नहीं है। समान भाव से भी निरन्तर तत्व में बसे हुये, उसी में डूबे हुए अपने आपको अर्पित करना ही सत्य की राह है इससे हटकर कोई राह नहीं है। वेदों का भी यही मत है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल मधुच्छन्दा के दूसरे सूक्त की छठी ऋचा।

"वायविन्द्रश्य सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्।
मक्ष्वित्थ धिया नरा।1।2।6।।"

आकर मिट गया जो तुम्हारी ही ब्रह्माग्नियों में! यज्ञ के द्वारा नित्य स्थायित्व को पाया उसने! हे प्राणवायु! अमर हुआ वह!

(वायविन्द्रश्च) हे प्राण वायु! आपके तथा महा आचार्य अर्थात् आत्मा के द्वारा (सुन्वत) उत्पन्न किए हुए अमृत को वही ग्रहण करता है। जो (आयातम) आकर (उप) व्याप्त हो जाता है, अर्थात **स्वयं को आत्मा रूपी यज्ञ में व्याप्त कर देता है।** (निष्कृतम) व्याप्त होकर आत्मा में जो सम्पूर्णता और व्यापकता से यज्ञ होकर, यज्ञ स्वरूप हो जाता है। (मक्ष्विता) आत्मा में स्थित हुए अर्थात आत्मस्थ होकर आत्म-स्वरूप हो गया। यज्ञ पुरूष ही (नरा) ब्रह्म-ज्वालाओं के द्वारा यज्ञ की अग्नियों के द्वारा उस अमृतमय स्वरूप में (धिरा) प्रकट होता है अर्थात उस स्वरूप को धारण करता है। हे प्राण वायु! सम्पूर्ण सचराचर में सभी यज्ञों में आत्मा रूपी आचार्य के साथ उपाचार्य स्वरूप प्रतिष्ठित होने वाले। आपके तथा आत्मा के द्वारा ब्रह्म-ज्वालाओं में, आत्मा रूपी यज्ञ कुण्ड की अग्नियों में उत्पन्न हुए, प्रकट हुए अमृत का वही पान करता है जो स्वयं को जीवन्त एवं व्यापकता में अपने ही अन्तर में आकर, ब्रह्म-ज्वालाओं को धारण करने वाले यज्ञ के पुरूष के ज्योतिर्मय स्वरूप में जन्मता है, शहद की मक्खियाँ पुष्प-पुष्प पर भटक कर शहद के

कणों को बटोरती हैं वे शहद कीमक्खियाँ अपने द्वारा उस अर्जित शहद को कृष्ण पक्ष की अंधेरी रातों में ग्रहण नही करती, भूखी रहकर, शुक्ल पक्ष की उजेली रातों को प्रतीक्षा करती है। शुक्ल पक्ष की उजेली रातों में, शहद की मक्खियाँ अपने द्वारा अर्जित मधु का पान करती है। शहद बटोरने वाले इस सत्य से भलीभांति परिचित होते हैं, इसलिए वे अमावस्या के पास में मधुमक्खियों के छत्तों से शहद एकत्र करते है। शहद बटोरने वाले यह भी जानते है कि शुक्ल पक्ष की उजेली रातों में उन्हें खाली मक्खियों की झोंझ ही मिलेगी उसमें शहद नहीं होगा। उन शहद की मक्खियों की भांति ही हे! मनुष्य तूने भी जन्म-जन्म, योनि-योनि भटक कर मनुष्य योनि के इन क्षणों को जीवन के, शहद की मक्खियों की भांति एकत्र किया है। न जाने कितनी योनियों में, कितने जन्म तप कर के हमें यह मनुष्य योनि मिल पायी है। अब यह हम पर निर्भर करता है कि हम इस दुर्लभ मनुष्य योनि के क्षणों को विषय-वासनाओं की अन्धता की काली अंधेरी रातों में नष्ट कर दें और पुनः आवागमन की राह पर भटकने चले गये अथवा आत्म-ज्वालाओं की स्निग्ध ज्योतियों में, जीवन के शुक्ल पक्ष में मनुष्य योनि के अमृतमय क्षणों को आत्मा में अभीष्ट को प्राप्त करें। यह निर्णय हमें स्वयं ही करना होता है। आत्मस्थ आत्म-ज्वालाओं के शुक्ल पक्ष में जीवन को भोगे अथवा वासनाओं के अंधेरे पक्ष की अमावस को जीवन की राह बनाये। **जिसने स्वयं को विसर्जित किया, संकल्प रूप तिरोहित हुआ अपनी ही आत्माग्नियों में मिटा कर अस्तित्व अपना, ब्रह्म-ज्वालाओं ने उसे यज्ञ का सम्मान प्रदान किया, नित्य देवत्व अमरत्व को पाया उसने।**

(94) मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।।1 ।3 ।31 ।।

मध्व, आदि, ष्व (श्व), सम्भवात्, अनाधिकारं जैमिनिः।

मध्व् (म= मुत्यु, ध्व = को ध्वस्त करने वाला) मृत्युञ्जय

(मध्वाचार्य) एक आचार्य आदि भी मृत्यु (श्व) से पुनः अमर सम्भव होने को अनाधिकार अर्थात असम्भव नही मानते हैं तथा जैमिनिः (जेमिन-जीमना, यज्ञ में ग्रहण किये जाना तथा एक ऋषि का नाम) जैमिनि

आदि तथा उनके गुरू वेदव्यास का भी यही मत है।

ब्रह्मसूत्र के सूत्रों के एक से अधिक अर्थ निकलते है जैसे **'मध्वा' का अर्थ (म=मृत्यु, ध्वा=श्वस्त करने वाला) मृत्यु को भी परास्त करने वाला अर्थात अमर आत्मा जो मिट्टी को मनुष्य का रूप देता है।**

"मध्वा" शब्द का दूसरा अर्थ यहाँ द्वैत वादी आचार्य मध्वाचार्य के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जो जीव ओर आत्मा को अलग मानते है। इस सूत्र में मध्वाचार्य के द्वैत सिद्धान्त को लक्ष्य करके यही कहा गया है कि जीव ओर आत्मा को अलग बताना असम्भव है, सत्य नहीं है। यह अनाधिकार बात है। क्योंकि जीव की उत्पत्ति ईश्वर से है" तो वह अलग कैसे हो सकता है। ब्रह्म (आत्मा) से ही समस्त जीव, सचराचर की उत्पत्ति होती है यही सत्य है जिसे जैमिनि ऋषि तथा उनके गुरू वेदव्यास भी सत्य मानते है। **जैसे जल और बर्फ देखने में भले ही अलग-अलग दिखे परन्तु तत्व रूप से दोनों अभेद है।**

जीव और आत्मा के अभेद तत्व को वेदों में भी स्पष्ट व बहुत ही सुन्दर रूप में दर्शाया गया है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल मधुच्छन्दा ऋषि चतुर्थ सूक्त की प्रथम ऋचा।

"सुरूप कृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ।।1।1।14।।

"समस्त सगुण सचराचर को चित्रित करने वाले स्वनिर्मित कृति में स्वयं बंध जाने वाले दुधारी गौवों का दोहन करने वाले घट-घट, क्षण-क्षण यज्ञमयी छवि का दरस तुम्हारा"।

(सुरूप) सगुण साकार रूपी सचराचर को (कृत्नु) उत्पन्न चित्रित करने वाले कलाकार (मूतये) अपनी ही बनायी हुई मूरत, कलाकृतियों में स्वयं बंध जाने वाले (सु) दिव्य, अलौकिक (दुधाम) दुधारू गौवों की(इव) भांति सम्पूर्ण सचराचर का गोदोहन करने वाले (गोदुहे) ग्वाले। (जुहूमसि) स्रुवा लिये हाथ में तुम्हारी ज्योतिर्मय छवि को (द्यविद्यवि) घट-घट, क्षण-क्षण दर्शन करते है। हम सदा।

कैसी अद्भुत लीला है तुम्हारी एक अद्भुत, अलौकिक चित्रकार की भांति सम्पूर्ण सचराचर को चित्रित करते हो तथा फिर अपने ही बनाये चित्र, मूर्ति में स्वयं बंध कर उसे जीवन्त कर देते है। बनाते हो चित्र और बंध जाते हो उस चित्र में स्वयं।

जब भी प्रकृति रूपी माता यशोदा, आत्मा रूपी श्रीकृष्ण को इस शरीर रूपी उखल के साथ बांध देती है तो यह जड़ उखल रूपी शरीर जीवन्त हो चलने फिरने लगता है और जिन्दगी की न जाने कितनी दहलीजें पार कर जाता है तथा जिस दिन पुनः माँ प्रकृति रूपी यशोदा, आत्मा रूपी गोपाल को इस शरीर रूपी उखल से अलग कर देती है उसका अन्त आ जाता है। आत्मा से रहित यह शरीर मात्र भस्मी (मिट्टी) ही है, जब भी पारस कन्हैया अर्थात आत्मा का स्पर्श पाता है मिट्टी से फल, अन्न तथा बालक बन जाता है।

(95) ज्योतिषि भावाच्च ।।1 ।3 ।32।।

ज्योतिर्विद सृष्टि उत्पत्ति प्रलय आदि के नियमन की अवधारण के भाव से भी जीव की मानसी उत्पत्ति ब्रह्म से ही है। दोनों अंश एंव अंशी के समान है। भेद नितान्त असम्भव है अंशी का **अंश से अद्वैत करना ही योग है तथा योगफल मोक्ष है।**

इस सूत्र को पूर्व सूत्र के संदर्भ में ही देखना चाहिए। जैसा कि पूर्व सूत्र में आया कि मध्वाचार्य ने जो कहा कि जीव और आत्मा अलग है, इसी का खण्डन करते हुए इस सूत्र ज्योतिषि भावाच्च में स्पष्ट कर रहें हैं कि ज्योतिर्वेद के अनुसार **जीव और आत्मा का द्वैत सत्य नहीं है। अज्ञान के कारण ही जीव स्वयं को ईश्वर से अलग मानता है।**

आत्मा और जीव दोनों रूप हमारे है। एक रूप से हम आत्मा है तथा दूसरे रूप से हम जीव भी है। आत्मा को सुष्टि उत्पत्ति का सम्पूर्ण ज्ञान तथा सामर्थ्य प्राप्त है जीव मात्र भोक्ता है। जीव का आत्मा से मिलन ही योग है तथा इसी को अद्वैत कहते हैं।

जीव और आत्मा को अलग मानना सत्य नहीं है। रामचरित मानस

से भी यही कहा गया है कि "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" जब जीव ईश्वर (आत्मा) का ही अंश है तो फिर उनमें भेद कैसे हो सकता है। भगवतगीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने कहा कि पाण्डवों में मैं ही जीव रूप अर्जुन हूँ। **जीव ब्रह्म की मानसी उत्पत्ति है तो वह ब्रह्म से अलग कैसे हो सकता है।**

(96) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।।1 ।3 ।33 ।।

बादरायण वेदव्यास तथा अन्य सभी ऋषियों ने भी आत्मा तथा जीव को अंश अंशी ही माना है तथा उन्हें अलग नही माना। **आत्माद्वैत ही धर्म है तथा यही मोक्ष का द्वार है।**

इस सूत्र को पिछले सूत्र के साथ ही देखना चाहिए। बादरायण वेद-व्यास आदि ने अपने सभी स्मृति ग्रंथों में इसी भाव को लिया है कि जीव और **आत्मा अलग नही है। वहाँ कोई द्वैत नहीं है।** जीव और आत्मा अंश तथा अंशी है तथा जीव और आत्मा का मिलन ही योग है।

(97) शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।।1 ।3 ।34 ।।

शुक, अस्य, तत्, अनादर, श्रवणात्, तत्, आद्रवणात्, सूच्यते, हि।

तोते की भांति (पिंजड़े से छूटने पर) सुने को भी अनसुना करते हुये आत्म तत्व रूप सम्पदा द्रव्य को अर्पित सूक्ष्म, तीक्ष्ण, आत्म-लक्ष्य पर स्थिर होकर अन्तः करण में समाधिस्थ होना ही आत्म-योग का मार्ग है।

कुछ पुस्तकों में शुगस्य के स्थान पर सुगस्य का प्रयोग हुआ है परन्तु अर्थ समान है, पिंजड़े में बंद तोते का उदाहरण लिया गया है। हम सब जीव भी मोह, माया, आक्ति, विषयास्क्ति रूपी पिंजड़ों में बंद हैं। तोता जब पिंजड़े से छूट जाता है तब वह अपने पुराने मालिक के हर शब्द को अनसूना कर अनादर कर देता है और सीधे खुले आसमान में उड़ जाता है। इसे एक कथा से स्पष्ट करते हैं कि एक मनुष्य ने एक तोते को पकड़ कर उसे पिंजड़े में कैद कर दिया। जब जैसा वह मनुष्य तोते से कहे तोता भी उसी की नकल करें। बहुत दिनों के बाद एक दिन तोते के मालिक ने सोचा चलो तोते को मेला दिखा लायें और वह पिंजड़ा को कंधे से लटकायें मेला

देखने शहर की ओर चल दिया। थक जाने पर वह पिंजरे को रख कर थोड़ी देर के लिए सो गया। इतने में वहाँ एक तपस्वी साधु आया तो तोते ने तपस्वी से कहा कि हे!साधु मुझे इस कैद से छूटने का कोई उपाय बताओ। जब साधु तोते को बताने को हुआ तभी तोते के मालिक ने करवट ली और उठने लगा, इस पर तपस्वी कुछ तो नहीं सका परन्तु उसने धरती पर लेट कर मरने का स्वांग किया जिसे देख कर तोते ने भी मुक्ति का सूत्र ले लिया कि पिंजड़े की कैद से छूटने के लिए उसे भी मरने का स्वांग करना होगा। जब मालिक पिंजड़ा लेकर आगे बढा तो एक चीख मारकर तोता भी बदन को अकड़ाकर टांगे उपर किए पिंजड़े में लेट गया। मालिक ने देखा तो उसने तोते को जगाने के लिए उसका नाम लिया उसे हिलाया परन्तु तोते ने सभी शब्दों को अनसुना कर उनका अनादर किया जिससे मालिक ने समझा कि तोता मर गया है ओर यह तोते को पिंजड़े से बाहर रख कर उसको समाधि देने के लिए गड्ढ़ा खोदने लगा तभी मौका देखकर तोता उड़ गया।

इस कथा का भावार्थ यही है कि जब तक हम इस माया जगत की सारी आसक्तियों, अतृप्तियों, इच्छाओं, वासनाओं को **अन्तिम रूप से मार नदें तब तक हमारा उद्धार नहीं होगा और आत्म-जगत में हमारा पुनः जन्म सम्भव नहीं है।** माया जगत की हर आसक्ति को तोते की भांति अनसुना अनादर कर दें और आत्मा को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य बना कर उस ओर बढ़ जाये। आत्मा को ही अपना सब कुछ मानो।

(98) क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात् ।।1 ।3 ।35 ।।

क्षत्रियत्व, गतेः, च, उत्तरत्र, चैत्र, रथेन, लिंगात्।

गृहस्थ में ब्रह्मचर्य से आकर धर्म-पूर्वक जीने के उपरान्त पिंजड़े से छूट गये तोते की भांति ही उत्तरोत्तर चैतन्य होकर वानप्रस्थ में शरीर को रथ, धारक रूप में जानते हुये आत्म-लिंग को धारण करे। आत्म निमित्त, आत्म यज्ञार्थ, आत्म-सेवार्थ, आत्म-लिंग को तद्रूप, तद्भाव अनुसरण करते हुये आत्म-योग को प्राप्त हो।

इस सूत्र को भी पूर्व के सूत्रों के संदर्भ में ही देखना चाहिए। दुर्भाग्य से इन सूत्रों को जातिवाद तथा भेदभाव, छुआ-छूत आदि के साथ जोड़ दिया गया है जो कि नितान्त गलत है। सनातन धर्म आत्म-परक धर्म है जो **"एको ब्रह्म द्वितीयोनाऽस्ति"** के सिद्धान्त को मानता है कि एक ही ब्रह्म (आत्मा) सर्वत्र व्याप्त है इसलिए प्राणिमात्र में भेद करना ईश्वर (आत्मा) का निरादर करना है। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए जो वर्ण-व्यवस्था की रचना की गई है वह कर्म पर आधारित की गई थी न कि जन्म पर। कालान्तर में इसके रूप में जो बदलाव आया वह सम्प्रदायों के निहित स्वार्थों के कारण हुआ धर्म का इस बदलाव से कोई सरोकार नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार गृहस्थ धर्म ही क्षत्रिय धर्म है। वही वह समय होता है जब काम क्रोध आदि हमारे सामने साक्षात होते है जिन्हें परास्त करके ही हम उत्तरोत्तर उत्थान को जाते हुए आत्म जगत, आत्म लिंग में समाधिस्थ हा, यही जीवन का अभीष्ट है। **गृहस्थ धर्म को आत्मा के निमित्त भाव में ही धारण करना चाहिए।**

(99) संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च ।।1 ।3 ।36।।

संस्कार, परामर्शात्, तद, भाव, अभिलाषाः, च।।

गुरूकुल में यज्ञोपवीत संस्कार में यही अभिलाषा संकल्प तथा जीवन के अभीष्ट मार्ग की भावना से संस्कारित हुए थे। यज्ञोपवी.। संस्कार के समय यही परामर्श दिया गया था कि तीन तागों का जनेऊ (यज्ञोपवीत) तीन सृष्टि यज्ञ का प्रतीक है, जिन्हें जानकर इस देह में ही द्विज (अर्थात दूसरा जन्म) लेकर दिखाऊंगा। इसी संकल्प के कारण ही प्रत्येक बालक को गुरूकुल प्रवेश के साथ ही शूद्र (अज्ञान) को त्यागते हुए **प्रथम द्विज अर्थात् "वैश्य"** घोषित किया जाता था।

आदिकाल से सनातन धर्म ने मनुष्य मात्र में भेद नहीं किया है। वर्ण-व्यवस्था को भी सनातन धर्म ग्रंथों ने जन्मना नहीं माना है। स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं कि

"चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारव्ययम्।।

हे अर्जुन! चारो वर्णो की सृष्टि मेरे द्वारा गुण और कर्म के विभाग से हुई है। यहाँ भी भगवान वर्ण व्यवस्था गुण-कर्म विभाग सा ही मानते हैं, जन्मना नहीं स्वीकारते। आगे चलकर गीता में भगवान पुनः विषय को स्पष्ट करते हैः-

"विद्याविनयसंपन्ने ब्रह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।

हे अर्जुन! विनय युक्त ब्राह्मण में, चाण्डाल में गौ हाथी में जो भेद नही करता है वही ज्ञानी है, धर्म को जानने वाला है। गुण कर्म विभाग से वर्ण-व्यवस्था क्या है? इसका उत्तर हमें अन्यत्र भी मिलता हैः

" जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्चते,
वेद पाठे भवेत् विप्रा, ब्रह्म जानाति ब्रह्मणा।।"

हर व्यक्ति जन्म से शुद्र है, संस्कार के द्वारा ही वह द्विज होता है ऐसा उपरोक्त लोक में कहा गया है। हम यदि धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं में भी देखें तो हमें इसी परम्परा का निर्वाह सर्वत्र मिलता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य सभी परिवारों में जब कोई बालक जन्म लेता है तो बारह दिन तक "सूतक" अर्थात छूत वास करती है। नाल काटने दाई भी हरिजन जाति की बुलाई जाती है, छठी पर्यन्त जच्चा और बच्चा को उसी दाई के हाथ का छुआ खिलाया जाता है। 12 दिन तक देवताओं के भी मन्दिर बन्द कर दिये जाते है। ऐसा करने का कारण है कि जन्मता बालक सभी परिवारों में शूद्र माना जाता है। जब तक बालक का यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता उसे ब्राह्मण के घर में भी शूद्र ही माना जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार से पूर्व बालक को वेद पाठ का अधिकार नहीं होता, वह मूर्ति का स्पर्श नहीं कर सकता, पूरे कपड़े पहनकर भी कच्चा अन्न ग्रहण कर सकता है, ब्रह्मणोचित सभी नियम उस पर लागू नहीं होते, वह शूद्र ही माना जाता है। इस प्रकार जन्म से प्रत्येक बालक को शूद्र मानने की परम्परा हमें धर्म द्वारा दी हुई व्यवस्थाओं में भी मिलती है इसका चलन आज

भी सारे भारत में व्यापक रूप से होता है।

वेद की मान्यता के अनुसार बालक शूद्र नहीं है। **कोई भी मनुष्य शूद्र नहीं है वह तो परमेश्वर की बनाई अनुपम कृति है,** तब फिर बालक को शूद्र क्यों कहा गया? यदि बालक शूद्र नहीं है तो फिर क्या है? धर्म ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया कि "अज्ञान" ही शूद्र है। अज्ञान से लिप्त होने के कारण की बालक शूद्र कहलाता है। जन्मता बालक अज्ञानी होने के कारण सर्वत्र शूद्र माना जाता है। इसी बालक की अगली अवस्था होने के कारण सर्वत्र शूद्र माना जाता है। इसी बालक की अगली अवस्था वैश्य होगी। जन्म काल में अज्ञान में लिप्त था तो शूद्र कहलाया। गुरूकुल में यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ज्ञानार्जन हेतु आया तो वैश्य हो गया। ज्ञान का अर्जन ही तो सत्य रूप में धनार्जन है। ज्ञान के द्वारा ही अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसीलिए ज्ञानार्जन करता बालक वैश्य कहलाता है।

गुरूकुल से उपराम हुआ बालक जब विवाह हेतु विवाह मण्डप में आया , छत्र को धारण किया तो क्षत्रिय हो गया। गृहस्थ धर्म ही तो क्षत्रिय धर्म है, मायाओं के महासमर का महारथी है। यूँ जन्म काल का शूद्र, गुरूकुल में वैश्य बना गृहस्थ हुआ तो क्षत्रिय कहलाया है।

गृहस्थ से ऊपर उठा तो **आत्मवत् जीने का इच्छा उसे वानप्रस्थ धर्म में ले आयी।** सबमें एक ब्रह्म है। मेरा पिता परमेश्वर घट-घट वासी आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर की सेवा में लगा है। आत्मा होकर अभेदभाव से हर जीव की जूठन को रक्त में बदल रहा है। इच्छा रहित होकर आत्मा अर्थात् ब्रह्म सचराचर की सेवा में लगा हुआ है। मैं भी अपने पिता ब्रह्म की राह चला। सचराचर ही मेरा परिवार **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** आत्मवत जीना है मुझको। आत्म यज्ञार्थ, आत्म सेवार्थ, आत्मवत संसार को जानते हुए आत्मा की भांति ही समर्पित जीवन होगा मेरा। ब्रह्म (आत्मा) ही मेरी राह है, ब्राह्मण हूँ मैं। इस प्रकार **वानाप्रस्थ धर्म में आते ही वह क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गया।**

इस प्रकार गुण कर्म विभाग की परम्परा हमें सद्ग्रंथों में भी मिलती है तथा मान्य परम्पराओं में भी मिलती है। मान्य परम्पराओं में भी

इसका ही व्यापक चलन देखने में आता है। इसी धार्मिक मान्यता का स्पष्ट प्रमाण हमें महाभारत में भी मिलता है। पाण्डव वनवासी का जीवन जी रहे है। कौरवों के षड्यन्त्र के कारण उन्हें 12 वर्ष तक वानाप्रस्थ तथा एक वर्ष अज्ञातवास बिताना है।

वन में एक दिन एक ऋषि की अरणी को लेकर एक मृत भाग गया था। युधिष्ठिर ने भीम से अरणी लौटा लाने के लिए कहा। भीम हरिण का पीछा करते हुये चले गये। बहुत समय बीत चुका पर भीम न लौटे तो युधिष्ठिर भीम को खोजने वन में जाते हैं। तो अचानक उनकी दृष्टि एक बहुत बड़े अजगर पर पड़ती है। जिसने भीम को बुरी तरह जकड़ रखा है। युधिष्ठिर इस दृश्य को देखकर चौंक उठते हैं वे मन ही मन जान जाते है कि यह कोई साधारण अजगर नही है। क्योंकि भीम के शरीर में हजार हाथियों का बल है, कोई साधारण जीव भीम को परास्त ही नही कर सकता है। अवश्य ही यह अजगर कोई यक्ष, देव अथवा किन्नर होगा। युधिष्ठिर उससे प्रार्थना करते हैं कि हे देव! आप कौन हैं कृपया मेरे भाई भीम को छोड़ दें इसके बदले आप जो इच्छा करें मैं वही भोजन सामग्री आपके लिए उपलब्ध कराऊँगा।

अजगर ने उत्तर दिया कि हे धर्म पुत्र युधिष्ठिर मैं तुम्हारा ही पूर्वज महाराज नहुष हूँ। ऋषि द्वारा अभिशप्त होकर इस अजगर योनि में आ गया हूँ यह मेरा दुर्भाग्य है कि अभिशप्त होने के कारण आज मुझे अपने ही प्रपौत्र को खाना पड़ेगा। मेरे द्वारा भीम का मरण तुम निश्चित जानों।

युधिष्ठिर के प्रार्थना करने पर अजगर बने बहुष कहते है कि हे!-युधिष्ठिर मेरे मन में तीन संदेह बाकी है। यदि तुम उन तीनों संदेहों का निवारण कर दो तो मैं शाप मुक्त हो जाऊँगा और अजगर योनि का परित्याग कर, मोक्ष को चला जाऊंगा। उसी अवस्था में भीम की जीवन रक्षा हो सकती है। इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि हे देव! आप अपने संदेहो को स्पष्ट करे मैं उनके निवारण का भरसक करूँगा। युधिष्ठिर ने विनय पूर्वक कहा।

तब नहुष ने पूछा कि क्या वर्ण व्यवस्था, जन्मना है? युधिष्ठिर ने

उत्तर दिया कि वर्ण व्यवस्था कर्मणा है, गुण-कर्म के विभाग से है। यह जन्मना कदापि नहीं हो सकती है। धर्म पुत्र युधिष्ठिर अर्थात् स्वयं धर्म ने उत्तर दिया।

क्या शूद्र यज्ञोपवीत का अधिकारी है, तथा वह भी ब्राह्मण हो सकता है? नहुष का दूसरा प्रश्न था।

इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि शूद्र भी ब्राह्मण हो सकता है अगर वह 12 वर्ष तक सरस्वती नदी अर्थात ज्ञान गंगा के तट पर तप करे तथा मनसा वाचा, कर्मणा शूद्र वृत्तियों का परित्याग करता, यज्ञ की ज्वालाओं से पवित्र होता ब्राह्मणोचित कर्म करने का अधिकारी है तथा यज्ञोपवीत का भी उसे अधिकार है। वह ब्राह्मण ही नहीं संन्यासी भी हो सकता हैं ईश्वर की राह में भेद नहीं होता है।

क्या ब्राह्मण शूद्र हो सकता है? नहुष का तीसरा प्रश्न था, जिसके उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा कि **ब्राह्मण वृत्तियों से त्यक्त हुआ ब्राह्मण तत्क्षण शूद्र हो जाता है।**

ब्राह्मण वृत्तियाँ क्या हैं? नहुष ने पुनः जिज्ञासा की।

सबमे एक ब्रह्म को देखना। आत्मा की भांति ही सचराचर में अभेद तत्व को सर्वोपरि मानकर सबमें आत्मवत् व्यवहार करना। **आत्मा की भांति ही अपरिग्रही होना।** आत्म-यज्ञार्थ, आत्म-सेवार्थ, आत्मवत् जीवन तथा सम्पूर्ण सचराचर को आत्ममय जानना ही ब्राह्मण-वृत्तियाँ है। युधिष्ठिर का सहज उत्तर था।

युधिष्ठिर के द्वारा शंकाओं का समाधान होते ही शाप मुक्त हो गया नहुष। अजगर योनि का परित्याग करके वह ज्योतिर्मय स्वरूप को धारण कर वह अनन्त को चला गया।

इसी प्रकार के प्रमाण हमें सभी धर्मग्रंथों में सर्वत्र मिलते है, जिससे यह स्पष्ट है कि छुआ-छूत अथवा भेद-भाव धर्म सम्मत कदापि नही है। महाभारत में ही ऋषि उत्तंक की कथा आती है जिसने भेद-भाव के कारण अमृत गवाँ दिया था। भगवान श्री रामचन्द्र ने शबरी के झूठे बेर खाये थे। निषाद गुरू का ऋषि वशिष्ठ के आश्रम (गुरूकुल) में श्री राम का सहपाठी

और अंतरंग सखा होना पुनः इस बात को स्पष्ट करता है कि शिक्षा के अधिकार से भी किसी को वंचित नहीं किया गया था तथा भेद-भाव की कोई व्यवस्था समाज में नहीं थी।

संस्कृति में **"श्वपच"** शब्द का प्रयोग **चाण्डाल के लिए प्रयुक्त** होत है **जिसका अर्थ है मुर्दे खाने वाला।** महाभारत में श्वपच नामक ऋषि भी आये हैं, जिनको महाभारत के **नायक भगवान श्री कृष्ण ने अपने से ऊपर पूज्य तथा बन्दनीय कहा है।**

होली का त्योहार भी इसका जीवन्त प्रमाण है जहाँ भेद-भाव करने वाला हिरण्यकशिपु एक पतित राक्षस के रूप में दिखाया गया है। उसका बेटा "प्रहलाद" जो अभेद भाव से सबके गले मिलता है, ईश्वर का प्यारा दिखाया गया है। होली आज भी उसी परम्परा का त्यौहार है, जहाँ न कोई छोटा है न कोई बड़ा है, न कोई अमीर है और न कोई गरीब, सब पर रंग डालों, सबको गले से लगा लो। यदि धर्म में छूत-पात और भेद-भाव की भावना होती तो क्या ये त्यौहार होते तथा सद्ग्रंथो में ये कथायें होती?

सनातन धर्म एक सागर है जहाँ नाना सम्प्रदायों की नदियाँ आकर उतरती है। असंख्य सम्प्रदाय भारत में अपने अलग-अलग अस्तित्व रखते हुये सनातन सागर में समाये हुये है। लगभग सभी सम्प्रदायों की सनातन धर्म में रहते हुये भी अलग-अलग धारणायें तथा मान्यताएँ रही है। कुछ सम्प्रदायों की देन जन्मना वर्ण-व्यवस्था छुआ-छूत और भेदभाव रहा है तथा आज भी है। एक साम्प्रदायिक मान्यता के लिए सारे धर्म को दोषी करार देना एक बड़ी ही 'दुर्भाग्यपूर्ण, भ्रांतिपूर्ण और लज्जाजनक बात है।'

(100) तद्भावनिर्धारणे च प्रवृतेः ।।1 ।3 ।37 ।।

इसी भाव (यज्ञोपवीत संस्कार) को जीवन पर्यन्त यथा धारण करें तथा जीवन को इसी प्रवृत्ति में रखें। शूद्र से गुरूकुल में यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा प्रथम (वैश्य) उपरान्त गृहस्थ (क्षत्रिय धर्म) तदृपरान्त वानप्रस्थ (ब्राह्मण धर्म) तथा सन्यास को अर्पित हों।

गुरूकुल में प्रवेश के समय ही यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा जन्म

समय की अज्ञान की शूद्रत्व को त्याग कर द्विज घोषित हुए थे। द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म जिस प्रकार पक्षी आदि को द्विज कहते है। जिनका पहला जन्म अण्डे में होता है उपरान्त अण्डें से पक्षी रूप में, इसी प्रकार का द्विज संकल्प यज्ञोपवीत संस्कार के समय दिलाया जाता है कि **इसी प्रकार में तप और ज्ञान के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र (ब्रह्माण्ड) से ज्योति बनकर नया जन्म लेकर दिखाऊँगा।** इसी संकल्प के कारण बालक को द्विज घोषित किया जाता था तथा यज्ञोपवीत के तीन तागे इसी संकल्प को सदा स्मरण कराने के लिए पहनाये जाते थे। तीन तागे सृष्टि यज्ञ के प्रतीक हैं, जिनसे हमें निरन्तर जीवन के क्षण प्राप्त हो रहे हैं तथा यही यज्ञ की राह मुझे अनन्त जीवन प्रदान करेगी।

संस्कारों को नियमपूर्वक धारणा कराना तथा संस्कारों में निहित भाव को समझना तथा उनका अक्षरशः पालन करना और उन्हें आत्मा की प्रवृत्ति में लाना ही संस्कारों का उद्देश्य है।

(101) श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।।1 ।3 ।38।।

श्रवण, अध्ययन, अर्थ, प्रतिषेधात, स्मृते, च।

मात्र श्रवण, अध्ययन करने से, अर्थ सहित जान लेने मात्र से आवागमन का प्रतिषेध सम्भव नहीं है। उसे जीवन में अक्षरशः धारण करना ही स्मृतियों का मत है।

तोते की तरह रटने से तथा अर्थ सहित जान लेने से ही कुछ नहीं होता है। आवागमन से मुक्ति संभव नहीं है। भजन कीर्तन जप, तप, मन को आंदोलित करने के साधन हैं कि हमारा मन एकांगी भाव से ईश्वर में लग जाये। **हमें ज्ञान को अपने जीवन में व्यवहार में लाकर सम्पूर्णता से उस पर अर्पित होकर जीना होगा तभी मोक्ष संभव है।** यही समस्त स्मृतियों का भी मत है।

(102) कम्पनात् ।।1 ।3 ।39।।

जिसमें चेष्टा, गति, चलायमान होता सचराचर वह आत्मा ही

है। आत्मा ही लक्ष्य, गति, राह एवं गंतव्य है। जीवन की सम्पूर्ण क्रिया आदि आत्मा द्वारा ही है। आत्माद्वैत ही सच्चा मार्ग है।

सम्पूर्ण चेष्टाएँ जागृति गति जो कुछ भी है आत्मा के द्वारा ही है। वह आत्मा भीतर है, उसी की दया से जीवन का हर क्षण हैं **आत्मा को ही जीवन मानना चाहिए। वाह्य सभी संबंध, नाते रिश्ते क्षणभंगुर होते है यह हमें जीवन का क्षण नहीं दे सकते है।**

वेद की ऋचाः

आ त्वां विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः।

शन्ते सन्तु प्रचेतसे।। ऋग्वेद। 1 ।5 ।7 ।।

(आ) आकर (त्वां) तुममें (विशन्त्वाशवः) जब मृत प्रकृति में, जड़त्व में तुम प्रज्जवलित होती हो तो **जीवन का कम्पन शुरू होता है।** (इन्द्र) हे ब्रह्म ज्वाला (सोमास) ज्योतियों के जल से (गिर्वणः) जीवन के गुरूत्व को धारण करता है। (शन्ते) मंगलमय शान्ति से (सन्तु) संयुक्त कर (प्रचेतसे) जीवन व्यापार को गतिमान (कम्पायमान) करती हो।

हे इन्द्र! हे यज्ञ की ज्वाला मौन मृत्यु को प्राप्त हो गयी जड़ प्रकृति में तुम यज्ञ की ज्वाला बनकर प्रज्जवलित होती हो तो, मृत्यु की ठण्डक खामोशी टूटने लगती है। जड़ प्रकृति में जीवन्त हो उठता है। हे यज्ञ की ज्वाला जडत्व और मृत प्रकृति में तुम ही जीवन हो। जीवन के गुरूत्व को धारण करने वाली, महाशक्ति हो। असत्य और अज्ञान में भटकते हुए जीवन के अंधेरों का तुम निवारण करती हो, तुम्ही ज्योति हो नेत्रों का प्रकाश हो।

(103) ज्योतिर्दर्शनात् ।।1 ।3 ।40 ।।

ज्योतिः, दर्शनात्।

ज्योति से सचराचर प्रकट है। भस्मी मृत देह का विषाक्त त्याज्य मल भी आत्म ज्योतियों में पेड़ों के गर्भ में यज्ञ होकर ज्योतियों में लौटता अन्नादिक के रूप में दृश्य होता है। उसी प्रकार अन्नादिक भोजन के रूप में जीवों के शरीर में आत्म यज्ञ में ज्योतियों में परिणित होकर यथा संतति में

दृश्य प्रकट जन्मते है। अतः आत्म-ज्योंतियों को प्राप्त होकर अनन्त अमर जन्म की कल्पना हैं। **ज्योति से ही अमर अनन्त जन्म संभव है।**

सृष्टि यज्ञ की ज्योतियों के सम्पूर्ण सचराचर प्रकट होता है। वह **सृष्टि-यज्ञ हम सबमें व्याप्त है** तथा हमारा जीवन उसी की कृपा से है। इस जीवनदायी सृष्टि यज्ञ की उपेक्षा कर हम विषयान्ध जगत में लिप्त हो जाते है।

जो कुछ भी दृश्य जगत है वह सब सृष्टि यज्ञ की ज्योतियों ने ही प्रकट किया है। आत्म-ज्योतियों के सम्मुख रह कर जीवन को ज्योतिर्मय बनाना चाहिए।

वेद हमें जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। यह हमें **वाह्य जगत तथा अंतरात्मा के भेद, को स्पष्ट कर उनका पूर्ण ज्ञान कराते है। जिस प्रकार वृक्ष का जो बाहरी स्वरूप फूल, पत्ते, शाखा, फल, तना आदि जो हमें दिखाई देते हैं, वह वृक्ष का सम्पूर्ण सत्य नहीं है। वृक्ष का सत्य उसकी जड़े है जो अदृश्य रहती है और वही वृक्ष का आधार है। इसी प्रकार भीतर हम सब में व्याप्त आत्म-यज्ञ, सृष्टि-यज्ञ की जयोतियाँ जो स्थूल रूप से अदृश्य हैं, परन्तु वही जीवन का आधार है।**

(104) आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।।1 ।3 ।41 ।।

आकाशः, अर्थान्तरत, आदि, व्यपदेशात्

(आकाशः) गगन का अर्थ नाना प्रकार से वेद स्मृति एवं अन्यत्र जो भी हुआ है, उसका तात्पर्य आत्मा ही है। **आत्मा ही ब्रह्म है। आकाश एंव ज्योति है। उसे ही आत्म-यज्ञ की संज्ञा प्राप्त हैं।** ऐसा ही उपदेश व्यापक रूप से सर्वत्र हुआ है।

आकाश, अन्तरिक्ष (अन्तः+ईश) जो हमारे इस देह में क्षीरसागर बनकर रहता है वही आत्मा है तथा हम सबका आराध्य है। प्राणवायु को **आत्मा में बसा कर आत्मा के शरण हो जाना ही योग एवं भक्ति है।** मात्र आसन आदि सिद्ध कर लेने से कोई योग नहीं होता है। ब्रह्म, आकाश, आत्मा आदि शब्दों के जो भेद दिखाई देते हैं, वास्तव में ऐसा नहीं है।

आकाश ही माया (गुरूत्वाकर्षण) रहित क्षेत्र आत्मा है।

(105) सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।।1 ।3 ।42।।

सुषुप्त, युत, क्रान्त्योः, भेदेन।

निद्रा में निमग्न जीव स्वप्न आदि में भ्रमण चेष्टा एवं दृश्यावलियों का अवलोकन करता अपने भीतर अन्तरिक्ष में विचरता है, उसी प्रकार वाह्य निमित्त जगत स्वप्न सदृश्य हैं। **"स्व" जगत ही नित्य मूल जगत है,** जो जनम-जन्म नहीं बदलता है। वाह्य भौतिक जगत स्वप्न की भांति सदा बदलता रहता है।

जीवन की पूर्णता आत्मा (गोविन्द) से जुड़कर ही होती है। सम्पूर्ण वाह्य जगत स्वप्न की भाँति है। जो स्वयं को नहीं जानते, अपनी वस्तुस्थिति का भान कर जीवन नहीं जीते हैं वह नष्ट हो जाते हैं। जब तक हम अंतरमुखी नहीं होते हैं हम स्वप्न में ही जीने लगते है।

(106) पत्यादिशब्देभ्यः ।।1 ।3 ।43।।

(पत्य) पति आदि परम आदि शब्दों से भी इसी भाव को ग्रहण करना चाहिये। इन्हें अलग संज्ञा नहीं मानकर, पद तथा विशेषण के रूप में ही ग्रहण करना ही सत्य है। आत्मा, यज्ञ तथा ईश्वर संज्ञा रूप है। परम + आत्मा = परमात्मा अथवा परम + ईश्वर = परमेश्वर तथा त्रिलोक पति और घट-घट में वास करने वाले आत्मा के ही विशेषण विभूति तथा सम्मानार्थ पद है।

पति आदि शब्दों से संज्ञा का भाव नहीं लेना चाहिए यह विशेषण हैं जैसे आत्मा में परम लगाने से परमात्मा हुआ। **आत्मा ही सम्पूर्ण सचराचर का अधिपति हैं, इसमें संदेह नहीं करना चाहिए।**

पति आदि शब्द से अध्यात्म जगत में कोई भेद नही होता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आत्मा के ही तीन नाम है। क्षीरसागर भी हमारे भीतर है। हम सब प्रभु की अनुपम सुन्दर कृति है। धर्म ईश्वर को घट-घट वासी मानता है। **ईश्वर हमारा योगक्षेम तभी वहन करेंगे जब हम पूर्ण समर्पण के**

साथ ईश्वर की राह पर चलते हैं। जिन्होने शरीर इन्द्रियों को पवित्र भक्ति की राह पर नही लगाया के कभी भी भक्ति को नहीं पा सकते हैं। वेद आदि ग्रंथ हमें लक्ष्य परक जीवन जीने की राह दिखाते हैं, इनसे हटकर जीना, दिगभ्रमित होकर जीना है।

इति श्री ब्रह्म-सूत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय तृतीय पाद।

प्रथमाध्याये- चतुर्थ पादः

(107) आनुमानिकम्पप्येकेषामिति चेन्नः, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।।1 ।4 ।1 ।।

आनुमानिकम	-	अनुमान करना।
अप्य (अपि)	-	इस भाति।
एकेषाम	-	रथ का अर्थ केवल इकलौता मृत भौतिक वाहन (गाड़ी) है।
इति	-	ऐसा।
चेन्नः	-	कदाचित सत्य नही है।
शरीर	-	शरीर को।
रूपक	-	प्रतिरूप, प्रतिबिम्ब के रूप में।
विन्यस्त	-	हर ओर सभी श्रुतियों, स्मृतियों तथा भाष्य ग्रंथों में विस्तार से।
गृहीतेः	-	ग्रहण किया गया है।
दर्शयति च	-	दर्शन आदि के रूपक में भी शरीर की उपमा रथ के रूप में है।
यथा	-	दश (दस) इन्द्रियों का निग्रह करने वाल मन दशरथ तथा तन अवध है। दस (दश) इन्द्रियों को मुँह बनाकर सर्वत्र भटकता मन दशानन रावण है तथा तन लंका है।

ब्रह्मसूत्र धर्म की सीमा बाँधते है। यह अनुमान करना कि रथ का मतलब मात्र गाड़ी है ऐसा सत्य नहीं है। शरीर का रथ के रूपक में सभी ग्रंथों, वेदों, स्मृतियों में शरीर को रथ के रूप में स्थापित, ग्रहण किया गया

है। सर्वत्र लीलाओं में भी शरीर को रथ के रूप में दिखाया गया है। भगवत्गीता में भी यही दर्शाया गया है कि **शरीर रथ है, जीवात्मा (अर्जुन) रथी है तथा आत्मा (श्रीकृष्ण) सारथी है।**

(108) सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।।1 ।4 ।2 ।।

सूक्ष्मम्- सूक्ष्माति सूक्ष्म (आत्मा) में, यूं ऐसे (तत्) मृत्यु से रहित (अहत्वात्) होकर।

आत्म मिलन ही योग है। कारण शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर भी रथ के समान है। स्थूल शरीर के मृत होने के उपरान्त भी सूक्ष्म शरीर भी रथ के समान है। **स्थूल शरीर के मृत होने के उपरान्त भी सूक्ष्म शरीर नित्यावस्था को प्राप्त होकर जीवात्मा को अन्य योनियों में सक्षम होकर ले जाता है।**

रथ में रथ है। स्थूल शरीर रथ के भीतर भी सूक्ष्म रथ है सूक्ष्म शरीर के रूप में जिसमें जीव, जीवात्मा तथा प्राणवायु तीनों इस शरीर में एक साथ बैठें है, ब्रह्मरन्ध्र रूपी नीड़ (घोसले) में। शरीर का प्रथम कोश (सेल) ब्रह्मरन्ध्र में ही बनता है यही शरीर का डी.एन.ए. भी है तथा सम्पूर्ण शरीर एक इकाई के रूप में भी कार्य करता है।

स्थूल व सूक्ष्म शरीर के भेद को हम इस उदाहरण से भी समझ सकते हैं जैसे सागर में एक बड़ा जलपोत खड़ा है तथा उसी पोत में एक वायुयान भी खड़ा है तथा उसी पोत में एक वायुयान भी खड़ा है जो इस **स्थूल शरीर रूपी रथ (जहाज) में सूक्ष्म आत्मा रूपी यान (देवयान) है।** जब बड़ा जहाज जल में डूबने लगता है तो जहाज पर सवार यात्री (रथी, जीवात्मा) इस यान में सवार होकर उड़ जाता है। इसी प्रकार इस सूक्ष्म **शरीर रूपी यान (रथ) से जीवात्मा अगली योनि में गमन करता है।**

(109) तदधीनत्वादर्थवत् ।।1 ।4 ।3 ।।

(तत्) ऐसे आत्म-यज्ञ ईश्वर के अधीन (अधीनः) तथा (वाः) (अर्थवत्) उन्ही संदर्भो में जगत नियन्ता सृष्टा आदि संज्ञायें आत्मा को प्रदान की गई है। इनसे भेद का भाव नहीं ग्रहण करना चाहिए तथा

सांख्यादि दर्शनों की शब्दिक परिभाषाओं से भ्रमित हुए बिना अन्तर भाव को ग्रहण करना चाहिए जो आत्मा ही है।

धर्म का आधार आत्मा ही है, जैसे वृक्ष का मूल उसकी जड़े होती हैं। जड़ को चेतन्य करने वाला यज्ञ आत्मा ही है, वही इस शरीर रूपी रथ को बारम्बार प्रकट करता है तथा हम सबको आत्म-ज्योतियों से वरद कर हमें धारण करता है। विषय वासनाओं के सुख क्षणिक होते हैं, अनन्त सुख आत्मा में ही है। हम अपनी मनोवृत्तियों के कारण स्वयं को दीन हीन मानने लगते हैं अन्यथा जिसे स्वयं ईश्वर बनाता है वह दीन (छोटा) कैसे हो सकता है?

(110) ज्ञेयत्वावचनाच्च ।।1 ।4 ।4 ।।

ज्ञेय- ग्रहण करने योग्य। अत्व-ऐसे।

अवचनाः वचन से ही है। च-तथा।

ऐसा कहना (सांख्य का उद्धरण करके) कि प्रकृति ही जगती का कारण है तथा उसके द्वारा ही सचराचर प्रकट होता है, ऐसा सांख्य दर्शन का मत कदापि नहीं है। **प्रकृति मात्र कारण है जब कि कर्त्ता यज्ञ है।**

यह ज्ञात करना अर्थात् कहना कि जो कुछ कहा गया है वह असत्य है ऐसा वचन सत्य नहीं है कि सांख्य के अनुसार प्रकृति ही संसार की उत्पत्ति का कारण है। कारण के उपरान्त ही कत्ता होता है। **सृष्टि का कारण प्रकृति है परन्तु कर्त्ता तो मात्र आत्म-यज्ञ आत्मा ही है।** सांख्य दर्शन में जो कुछ कहा गया है उसे समझने में भ्रम है।

(111) वदतीति चेन्न; प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।।1 ।4 ।5 ।।

वदत - कहना, बोलना, कथन।

इति - ऐसा। च-तथा। ऐनः-इस प्रकार, इस भांति।

प्राज्ञो - प्रज्ञा, आत्म-ज्ञान, ब्रह्म अध्यात्म।

हि - आदि सभी।

प्रकरणात्- प्रकरणों से भी आत्म-यज्ञ, आत्म, ईश्वर, ब्रह्म, को ही सचराचर का उत्पत्तिदाता परमेश्वर एवं कर्त्ता बताया गया है। घट-घट में (देहमात्र में) सृष्टि उत्पत्ति के कारण सृष्टा कहा गया अन्यत्र लोकों में वास करने की कल्पना साम्प्रदायिक, सामुदायिक सोच भर है।

जो कुछ भी कहा गया है वह आत्मा से जुड़ कर जीने के लिए ही कहा गया है। **आत्मा कौन है? इसका उत्तर है कि आत्मा सृष्टा है तथा सृष्टि में हर रूप में व्याप्त है।** उसे किसी स्थान विशेष या लोक जैसे सप्त लोक या सातवें आसमान तक सीमित नहीं किया जा सकता है। जब सृष्टा सृष्टि में व्याप्त हो जाता है तो वह ही आत्मन (आत्मा) कहलाता है। एक ही सत्य को नाना प्रकार से बताया गया है **(एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति)।**

(112) त्रयाणामेव चैव मुपन्यासः प्रश्नश्च ।।1 ।4 ।6 ।।

त्रयाणाम् - तीनों, ब्रह्मा, विष्णु और महेश (अ+ऊ+म=ॐ) धाण सृजन तथा संहार के प्रतीक।

ऐव - इस प्रकार, भांति।

ऐवम् - इस प्रकार।

उपन्यासः
(उप+न्यासः) - अभिव्यक्त, सम्पादित, प्रकाशित सुशोभित हुआ है। सभी प्रकार के ग्रंथो में कथाओं में घट-घट वासी आत्मा श्री हरि के रूप में।

च - तथा।

प्रश्न - इसमें संदेह कैसा?

वह जो तीनों की चर्चा करते हैं (अ्-उ्+म=ॐ) अर्थात, ब्रह्मा-सरस्वती विष्णु-लक्ष्मी, महेश-आदि शक्ति दुर्गा। सृष्टि उत्पत्ति के यज्ञ के ये तीनों ही अधिष्ठित देवता हैं इन्हीं को ॐ रूप में बीज रूप में रखा गया है। जो कथाओं, लीलाओं में सर्वत्र स्थापित हुआ है उस **आत्मा घट-घट वासी को सृष्टि का मूल मानों।** श्री मद्भगवत्गीता में भी भगवान श्री कृष्ण

ने भी यही कहा है कि **सम्पूर्ण क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ मैं आत्मा ही हूँ।** आसमानों, अपने से अलग भटकने की मात्र कल्पना हो सकती है परन्तु वह धर्म का विज्ञान नहीं हो सकता है। **ईश्वर को किसी एक स्थान अथवा लोक तक सीमित नहीं किया जा सकता है।**

वह आत्मा, देवत्व देवाधिदेव जो हमें बारम्बार जन्मने वाला है। जिसके कारण ही हमारा निरन्तर उत्थान है जिसकी शोभाओं से समस्त लोक जगमगाते है, **ऐसे श्री हरि का स्मरण करे उसकी शरण हों। ऐसे आत्म-यज्ञ का अवाहन करें।** जिस प्रकार सूर्य धरती से दुर्गन्ध, पाप को नष्ट कर सभी बाधाओं को तोड़ कर जीवन देता है, **इसी प्रकार जो इस आत्म-यज्ञ में स्वयं को भस्म करता है उसी का उद्धार होता है। जो डूबा नहीं उसने मोती भी नहीं पाया।**

(113) महद्वच्च ।।1 ।4 ।7 ।।

महद् (महत्) वचः

महद् (महदयश = परमेश्वर) महत् = महान। वचः = सूर्य, घट-घट वासी आत्मा ही महान सूर्य सृष्टा, सृष्टिकर्त्ता एवं परमात्मा का स्वरूप है। **देह रूपी बैकुण्ठ में ही बैकुण्ठनाथ आत्मा है आत्म-यज्ञ से अद्वैत (योग) करें।**

महदयशा महान यशस्वी सूर्य आत्मा (ईश्वर) देवाधिदेव ही **सचराचर के स्वामी है।** आत्मा से जुड़कर ही महान बना जा सकता है। अपनी महानता स्वयं गाने वाले दंभी होते हैं सृष्टा (आत्मा) हमारे भीतर हैं और हम निर्धनता से जीते है यह हमारा दुर्भाग्य है।

बौद्धिक स्तर पर समृद्ध जीवन तभी जीया जा सकता है जब हम जीवन के सत्य को जान कर जीते हैं। जीवन एक यात्रा हैं, योनि मात्र ठहराव है। समय के अंतरालों में गुलामी की दासता से हमारी सोच में परिवर्तन आ गया है ओर हम अपने ही धर्म ग्रंथों के सही अर्थ समझने में असमर्थ हैं। अतीत सदा वर्तमान को नष्ट कर देता है। **भौतिक उपलब्धि में भले ही आगे बढ़ गये हों परन्तु मानसिक स्तर पर बहुत नीचे गिर गये हैं।**

जो स्वयं अपनी ही महान आत्मा का आदर नहीं करता वह भला दूसरों का आदर कैसे कर सकता है। **ईश्वर की भक्ति का अर्थ पूर्ण अर्पण समर्पण है। मात्र भजने से कोई भक्ति नहीं होती हैं।** प्रभु कहते है कि जो मुझे जीव मात्र में भजता है, मुझे देखता है वही ईश्वर का अतिशय प्रिय है।

(114) चमसवदविशेषात् ।।1 ।4 ।8 ।।

चमसवत्, अविशेषात्।

चमस = पात्र, शरीर, स्रुवा अथवा पात्र भौतिक यंत्र पात्र अथवा शरीर का (अविशेषात्) उत्पत्ति सृष्टि में **विशेष प्रभाव नही है।** जैसे कि भोजन के स्वाद समृद्धि पर बर्तन, पात्र अथवा चमस का विशेष प्रभाव नहीं होता है। सांख्य में आये शब्द "अजः" अज अथवा अजा का अर्थ अमरकोश, निरूक्त तथा सभी ग्रंथों में ब्रह्म को ही ग्रहण किया गया है। **"अज" शब्द का अर्थ अजन्मा, अमर, नित्य ही है।** शरीर अथवा प्रकृति की उपमा इससे कदापि नही हो सकती है।

चमस कहते है चमड़े की मशक को। **शरीर भी चमड़े की मशक ही सिर्फ चमस अर्थात शरीर** और भौतिकताओं को ही विशेष महत्व दे कर जीना अज्ञान है। पात्र, बर्तन कैसा भी हो उसका भोजन (खीर) पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता है। इसी प्रकार **शरीर और इससे जुड़ा संसार कोई विशेष महत्व नहीं रखता है महत्व मात्र आत्मा का ही है।** अज्ञानी जन शरीर को ही सब कुछ मानते है और ज्ञानीजन आत्मा से जुड़कर जीते है **सतही अवस्था तक सीमित रहने पर सारे तप व्यर्थ हो जाते है।**

सांख्य योग में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है कि प्रकृति की सृष्टि का मूल है। प्रकृति, **सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है, कर्त्ता मात्र आत्मा है।** आत्मा से ही जीवन है। मनुष्य योनि में भी अगर जीवन के सत्य आत्मा से जुड़कर नहीं जीया तो जीवन व्यर्थ है।

(115) ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ।।1 ।4 ।9 ।।

ज्योतिरूप आत्म-यज्ञ का अनुसरण करते आत्मा में (तु) व्याप्त

तथा हृदय में (ह्यधीयत) आत्मा के अधीन होकर (एक) एक हो जाये अद्वैत अर्थात् योगस्थ व्याप्त हों। **आत्मा को ही ज्योतिरूप में दर्शाया गया है।** सम्पूर्ण प्रकृति इसी से प्रकट जीवन्त होती है। ज्योति और रूप के क्रम में भी तथा जीवन को धारण करने के भाव में भी आत्मा को ही जीवन का मूल माना है। सृस्टि का कर्त्ता आत्मा ही है। किसी भी ज्ञान, विज्ञान में कोई भेद नहीं है।

हम सदैव आत्मा विराट के साथ रहते है। आत्मा ही हमें धारण किए हुये है तथा जीवन का प्रत्येक क्षण दे रहा है। आत्म यज्ञ जो सूर्य के समान ज्योतिर्मय है वह हमारे अंतर में नित्य प्रज्जवलित है तथा एक सूर्य जो बाहर है **इन दोनों में व्याप्त होकर स्थिर हो जायें। यह दोनों सूर्य (यज्ञ) एक ही है जैसे शीशा (आईना) बाहर का जगत है उसमें जो दिखाई देता है वह सत्य मान लेना अज्ञान है। जीव मात्र का यही कर्त्तव्य है कि धर्म की ध्वजा बनकर आत्मा (नारायण) से योग करके उपर उठें नीला आकाश में। हमें आत्मा में ही तृप्त होकर जीना चाहिए।**

(116) कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।।1 ।4 ।10 ।।

अनुभव, कल्पना, उपदेश आदि इत्यादि में भी आत्मा (आत्म-यज्ञ) ही सृष्टि का मूल है। मध्वाचार्य आदि के कथन भी अभिन्न है तथा न ही कोई विरोध (अविरोधः) है।

यह कल्पना करना अथवा उपदेश देना मध्वाचार्य आदि द्वैतमार्गी कोई अलग मार्ग बता रहे हैं ऐसा सत्य नहीं है। पूर्व में भी स्पष्ट कर दिया है, प्रकृति उत्पत्ति का कारण मात्र है, कर्त्ता कात्र परमेश्वर आत्मा ही है।

ईश्वर आत्मा को जीव से अलग बताना या उन्हें सप्त लोक आदि तक ही सीमित बताना असंभव है। **सृष्टा के बिना सृस्टि संभव ही नही है।** प्रकृति के नियमन ही धर्म के सिद्धान्त होते हैं जो प्रकृति में घटित न हो वह धर्म नही है। कल्पना कर लेने मात्र से वह धर्म के नियम नहीं हो सकते हैं। धर्म की मान्यता है कि जो **प्राणिमात्र में अनिवार्य रूप से अभेद है वही धर्म है।**

(117) न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।।1।4।11।।

न, संख्य (सांख्य), उप, संग्रहात्, अपि, नाना, भावात्, अतिरेकाच्च।।

न कोई संख्या, न ही सांख्य में व्याप्त, संग्रहित भी तथा नाना ग्रंथों, भाष्य आदि में इस विषय को अतिरिंजित किया गया है। **आत्म-यज्ञ ही सृष्टि का कर्त्ता है न कि प्राण, मन अथवा पॉचों इन्द्रियॉ। शरीर भी निमित्त मात्र है कर्त्ता आत्मा ही है।**

जैसा कि पूर्व के सूत्रों में स्पष्ट किया गया है कि न तो सांख्य आदि में ओर न ही नाना सम्प्रदायों आदि में जो कुछ कहा गया है जैसे द्वैत धर्म, सप्त लोक अथवा सप्त आकाश कि जो भी कल्पना अथवा उपदेश किया गया है। उसका कोई अर्थ नहीं हैं। जो सचराचर का स्वामी है उसे किसी स्थान अथवा सप्त लोक तक ही कैसे सीमित किया जा सकता है, इन बातों का कोई महत्व नहीं है।

वेद की ऋचाः-

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः प्रथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्धधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि।

।। ऋग्वेद। प्रथम मण्डल। ऋषि हिरण्य स्तूप अंगीरस। सूक्त 5 ऋचा।।

(अष्टौ) आठो प्रहर, आठों दिशाओं को (व्यख्यत्) स्पष्ट एंव प्रकाशित करने वाले (ककुभः कान्ति एंव सुरभि प्रदान करता (पृथिव्यास्त्री= पृथिव्याः+श्री) पृथ्वी, आकाश (स्वर्ग) एवं पाताल को (धन्व) कवच प्रदान करता, सुरक्षित) करता (धन्व एक प्रकार के पात्र का नाम है जिसमें धनुषों को रखा जाता है। योजना, व्यवस्था तथा उत्पत्ति से वरद् करता (सप्त) सात (सिन्धून्) ग्रहों को (जिस प्रकार) यहाँ स्पष्ट कर लेना चाहिए कि वेदों **में सप्त सिन्धून का तात्पर्य सूर्य परिवार के सातों ग्रहों से है** न कि मात्र सात नदियों से। (हिरण्याक्षः) दहकते सुनहरे नेत्रों वाला (सविता) सूर्य उसी प्रकार सहस्त्रों सूर्यों को जन्मने वाला आत्म-यज्ञ रूपी सूर्य में (देव) देवत्व की प्राप्ति हेतु (आगाद्धधद्रेत्ना = आगात् + दध + रत्ना) आकर यज्ञ को धारण करें एवं जीवन उपलब्धि सम्पूर्ण आत्म-यज्ञ में अर्पित कर (दाशुषे) दहन, यज्ञ में भस्म होकर (वार्याणि)- देवत्व का वरण करें।

भावार्थ:- निशिदिन आठों प्रहर आठों दिशाओं में उसकी ज्योति को ग्रहण करो, उसकी सुरभि, सुगंध और कान्ति का सुख लो। काल (समय) कभी रूकता नहीं हैं। उम्र सदा बढ़ती रहती है, आत्मा के बिना जीवन का एक क्षण भी नही है। आत्मा अमर देवता को अपने जीवन में धारण करो जो जीवन की सारी उपलब्धियों को देने वाला है, उसमें पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाओं। **जो आत्मा-ज्वालाओं में (दाशुषे) दहन, यज्ञ हो जाता है वही मोक्ष अमरत्व को प्राप्त होता है।**

(118) प्राणादयो वाक्यशेषात् ।।1 ।4 ।12 ।।

. प्राण आदि वाक्यों, संदर्भो से आत्मा अथवा उत्पत्ति के भाव को कदापि ग्रहण नहीं किया गया है। आत्मा के हटते ही प्राण भी शेष (शेषात्) हो जाते हैं। **मन, इन्द्रियॉ, प्राण आदि सब आत्मा के अधीन ही है। आत्मा, आत्म-यज्ञ ही उत्पत्ति कर्त्ता, ईश्वर, परमेश्वर आदि नामों से प्रशंसित होता है।**

प्राण आदि भी आत्मा के हटते ही शेष हो जाते है इसी कारण हम प्राणों को उत्पत्ति का मूल नहीं मान सकते हैं, **आत्मा के हटते ही भौतिक जीवन शेष हो जाता है।**

(119) ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।।1 ।4 ।13 ।।

(ज्योतिष) ज्योति, आत्म-यज्ञ के (एकेषाम) इस एक अकेले सत्य (सत्यः एनः)को ही आत्मा, यज्ञ, सृष्टा के रूप में सर्वत्र ग्रहण किया गया है। गणना अथवा गणित का कोई अन्य विधान भ्रांति मात्र ही हो सकता है। उसे (न) नकारा ही गया है।

ज्योतिर्मय सचराचर जगत में आत्म-ज्योति ही एकमात्र सत्य है। यह भी सत्य है कि हम पाँच तत्वों से बने हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि सारे तत्व ईश्वर (आत्मा) ही बनाता है। आत्म-यज्ञ की ज्योतियाँ ही सारे जगत में व्याप्त है यह सत्य हमारे भीतर है। एक ही सत्य की अनेक वास्तविकता, व्याख्या हो सकती है। (Truth is one explanation may be

plenty) जो ईश्वर हमारे भीतर आत्मा होकर बैठा है, वही सत्य है। **(सत्यमेव जयते) सत्य का कभी नाश नहीं होता है और असत्य कभी नहीं रहता है। तत्व कभी नष्ट नहीं होता है।** ब्रह्म (अणु) की आयु भी असीमित है। अनन्त के टेढे मेढे रास्तों पर जो जीव को राह दिखाता है हमारी सदैव रक्षा करता है, और **हमारा उद्धार करता है** वह आत्मा हमारे भीतर है। इस सत्य को जानकर हमें आत्मा के प्रति पूर्ण समर्पित होकर जीना चाहिए। आत्मा से योग बिना भक्ति भी संभव नही है तथा **प्रभु कृपा भक्ति के बिना संभव नहीं है।** यदि मन से कपट, लोभ, लिप्सा आदि नहीं गए तो कोई भक्ति नहीं हुई है।

(120) कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।।1 ।4 ।14 ।।

अन्य (अत्वेन) कारण (कारण) (च) तथा (आकाश) अन्तरिक्ष। (आदिषु) आदि, इत्यादि का। उक्तिः (यथा) यथा, उसी प्रकार से (व्यपदिष्टोक्तेः- व्यदिष्ट+उक्तिः) व्यापक रूप से उपदेश सर्वत्र उक्तियों में हुआ है। **आत्मा,आत्म-यज्ञ, ईश्वर आदि घट-घट वासी आत्मा के ही नाम है।** ऐसा श्रीमदभगवत्गीता में भी तथा ग्रंथों में कहा गया है। इसी कारण से तथा आकाश आदि के क्रमों में भी इसी बात को बारम्बार व्यापक रूप से ग्रंथों, उक्तियों में कहा गया है। कि आत्मा ही ईश्वर परमात्मा है। आत्मा के ही आगे विशेषण परम लगाने से वह परमात्मा होता है। **मेरे अंतर का अन्तरिक्ष ही बाहर का आकाश है।** धर्म जीवन, सृष्टि, उत्पत्ति का विज्ञान है। यह सभी विज्ञान की माता है।

(121) समाकर्षात् ।।1 ।4 ।15 ।।

सम्+आकर्षात्

सम्यक भाव से आकृष्ट, जीवन्त होता सचराचर जिसमें वह आत्म-यज्ञ ही है आत्मा ही घट-घट वासी यज्ञ परमेश्वर है।

सभी श्रुतियों, वेद, ब्रह्मसूत्र आदि नित्य-निरन्तर प्रज्जवलित ब्रह्म-यज्ञ की ही बात करते है। वाह्य यज्ञ निमित (नैमितिक) है। अंतर का

आत्म-यज्ञ ही जीवन सृष्टि की उत्पत्ति का यज्ञ है। धर्म का मत है कि **जिसने अपने अंतरात्मा में पूर्णता नहीं पायी वह अधूरा है तथा वह कभी भी जीवन में पूर्ण सुखी नहीं हो सकता है।** हमें अपनी आत्मा में ही जीवन की पूर्णता खोजनी चाहिए। ईश्वर आत्मा होकर भीतर विराजता है। सारे लोक हमारे भीतर हैं, **(यत् पिण्डे, तत् ब्रह्माण्डे) आत्मा से जुड़ जाना ही मोक्ष है।** सम्यक भाव से आत्मा का आकर्षण ही जीवन का आधार है। आत्मा के सत्य को नकारना नहीं चाहिए।

(122) जगद्वाचित्वात् ।।1 ।4 ।16 ।।

जगत, वाचित्वात्

जगत आदि तथा सभी प्रकार से सचराचर को आत्म-यज्ञ, आत्मा ही उत्पन्न करता है। उत्पत्ति के सम्पूर्ण भाव एंव संदर्भ सर्वत्र इसी सत्य को उजागर करते है। जड़ चेतन सचराचर को आत्म-यज्ञ ही प्रगट, उत्पन्न, जीवन्त एवं धारण करता है। जगत (संसार) में जहॉ-जहॉ जो कुछ कहा गया है वह यही है कि आत्मा (आत्म-यज्ञ) ही हम सबको उत्पन्न करता है।

(123) जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ।।1 ।4 ।17 ।।

जीवात्मा ही मुख्य रूप से प्राणपल्लवित्त, चिन्हित होता आत्म-यज्ञ में आत्मा के द्वारा इस भांति अर्थात जीवन, जीवात्मा के द्वारा ही जाना जाताहै। **जीवात्मा ही जीवन का भोक्ता है, जिसको आत्म-यज्ञ, आत्मा बनाता है जीवात्मा के हित में।** इसी भांति ही यह भाव सभी श्रुतियों, स्मृतियों तथा नाना ग्रंथों में व्याख्यादित हुआ है।

जीवन क्या है? इसकी व्याख्या में जीव की पहचान मुख्य रूप से प्राणों द्वारा ही होती है। जीवन का आधार आत्मा ही है, क्योंकि **प्राणों का संचार भी शरीर में तभी तक होता है जब तक आत्मा इस शरीर में विद्यमान रहता है। आत्मा और जीवात्मा का संबंध पिता-पुत्र का होता है।** आत्मा (पिता) की यही इच्छा होती है कि उसका पुत्र (जीवात्मा) उसकी जैसी सामर्थ्य व ऐश्वर्य को प्राप्त हो। इसके लिए जीवात्मा को पूर्ण रूप से

शुद्ध व निर्मल होना पड़ता है, इसी के लिए समस्त तप व साधना का विधान है। वेद की ऋचा में भी यही भाव है।

"स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये ।।1 ।1 ।9।।

एक पिता की भांति हे पिता परमेश्वर। अपनी विभूतियों से हम पुत्रों को संयुक्त करो। तुम्हारे पुत्र तुम्हरी शोभाओं से युक्त हों।

(स नः पितेव) जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को (सूनवे) अपनी ज्योतीं वैभव, शक्ति से संयुक्त करता है। उसी प्रकार हे जगत पिता! आप पिता हैं हमारे! हम सब आपके पुत्र है। पिता की भांति ही आप अपने पुत्रों को (सूपायनों) अपनी शोभाओं से, अपनी विभूतियों से संयुक्त करें। (भव) आपकी शोभाओं से संयुक्त होकर (सचस्वा) हम (न) सब (स्वस्तये) आत्मस्थ हों। पिता की राह का अनुसरण करो। **(अग्ने) हे अग्नि! हे यज्ञ हे पिता हम पर ऐसी कृपा करें।**

पुत्र ही पिता का अनुसरण करता है। हे पिता! आप ही आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर को निष्काम भाव से उत्पन्न करते हैं तथा उनमें जीवन का संचार करते हैं। हे पिता! हमें अपने सौभाग्य से संयुक्त करें, पिता की सेवा का अवसर प्रदान करें। **जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सेवा करता है, उसी प्रकार हे पिता हम आपकी सेवा करे तथा आपके द्वारा प्रकट हुए इस सचराचर के निष्काम समर्पित सेवक हों।**

(124) अन्यार्थ तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।।1 ।4 ।18।।

अन्य अर्थो में भी जैमिनी आदि सम्पूर्ण ऋषियों ने नाना उपनिषद (प्रश्नोपनिषद) आदि में इसी सत्य की व्यापक व्याख्या की है।

आत्मा ब्रह्म ही उत्पत्तिदाता है तथा प्राणवायु ही उसका दूत है एवं जीवात्मा के हित में उनकी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार आत्मा यज्ञ का आचार्य अधिष्ठित देव है तथा प्राणवायु उपाचार्य अच्छावाक है। तन रूपी सामिग्री ब्रह्म-ज्वाला ही यज्ञाग्नि तथा जीवात्मा ही यजमान है।

ज्ञान तभी मोक्षदायक होता है जब वह हमारे जीवन का अंग बने

जिस प्रकार अगर आकाश में बादल छाये रहें परन्तु बरसे नहीं तो वह फसल को हानि पहुँचाते है। इसी प्रकार अगर वह ज्ञान जो केवल बुद्धि में तो भरा रहे परन्तु जीवन में, **स्वभाव** में न उतरे तो वह केवल दंभ पैदा करता है और विनाश करता है। रावण भी ज्ञानी था, परन्तु दंभ के कारण उसका विनाश हुआ।

किसी भी संदर्भ में सभी ग्रंथों में सभी जगह आत्मा के सत्य को प्रतिपादित करने के लिए जो भी व्याख्या की गई है उसका अर्थ यही है कि आत्मा से जुड़कर योग करके ही जीवन-मृत्यु के आवागमन से मुक्ति संभव है। **प्रकृति कारण है कर्त्ता मात्र आत्मा ही है।**

(125) वाक्यान्वयात् ।।1 ।4 ।19 ।।

वाक्य, अन्वयात्

जो भी कहा गया है उसका प्रत्येक वाक्य, शब्द अर्थ इतना ही है कि आत्मा ही ईश्वर है तथा परम विशेषण से युक्त होने से परमेश्वर कहाता है। **आत्मा ही सनातन सृष्टा है। आत्मधर्म का दूसरा सम्बोधन सनातन धर्म है।** जीव यजमान है तथा प्राणवायु ही यज्ञ का उपचार्य है,सचराचर यथा सामिग्री है यही सृष्टि की उत्पत्ति के मूल यज्ञ का तत्व है। इसी सत्य को सर्वत्र नाना प्रकार से अन्वय, समन्वय सहित कहा गया है।

आत्मा के साथ योग करना ही जीवन में उत्तीर्ण होकर अनन्त की राह पर जाना है। वेदादिक ग्रंथों को स्पष्ट करने के लिए ही लीला कथाओं की रचना की गई है। **जिस प्रकार भगवान राम के साथ पवन पुत्र हनुमान है उसी प्रकार सृष्टि यज्ञ के अधिष्ठित देव आत्मा है और उनके साघ्य प्राणवायु है यह नित्य अपरिवर्तनीय सत्य है जिस ऋत कहते है।**

(126) प्रतिज्ञासिद्धेलिंगमाश्मरथ्यः ।।1 ।4 ।20 ।।

प्रतिज्ञा, सिद्धेः, लिगँम, आश्मरथ्यः

संकल्प, प्रकट करना, ज्ञात होना सब कुछ आत्मा में ही स्पष्ट सिद्ध है। प्राण, जीव, जीवन आदि की पहचान ब्रह्म अर्थात् आत्मा ही है।

(अश्म=पत्थर तथा आश्म-पत्थर, मिट्टी द्वारा निर्मित शरीर अथवा मूर्ति की)(लिंग) पहचान भी ब्रह्म (आत्मा) ही है। ब्रह्म अर्थात आत्मा ही घट-घट वासी सृष्टिकर्ता है।

सृष्टि कर्त्ता आत्मा ही है तथा कारण स्वरूप जीव प्राण एवं प्रकृति है ऐसा ऋषि आष्मरथ ने भी माना है।

आश्मरथ ऋषि को मूर्तिपूजा का जनक कहा जाता है और यह वैदिक कालीन ऋषि है। इसलिए यह कहना कि वेदों में मूर्तिपूजा का खण्डन है, यह सरासर गलत है। आत्मा से मिलने का माध्यम मूर्तिपूजा ही है। **नेति नेति का अर्थ है न इति- न इति अर्थात इतना ही नहीं-2। ब्रह्म आत्मा की इति (अंत) नहीं है,** उसे किसी एक रूप या स्थान तक में सीमित नहीं किया जा सकता है। सारा ब्रह्माण्ड और सारे रूप उसी के हैं, फिर यह कहना कि ईश्वर सप्त लोक में ही वास करता है यह ठीक नहीं है। मूर्तिपूजा को ढोंग कहने वालों के लिए यह **सूफी कथन है:-**

"गर वोबुत परस्त न हुआ होता,
तो कायनात तमाम बुतों से क्योंकर भर गया होता।
मत कहो कि बुतपरस्ती गुनाह है,
नाम-ए-अव्वल उसी का आयेगा।

हम सबकी (लिंग) अर्थात पहचान ब्रह्म आत्मा से ही है यह स्पष्ट सिद्ध है। **प्रतिज्ञा (प्रति+ज्ञा) ज्ञान के प्रति जो हमारा संकल्प है वह भी आत्मा से ही सिद्ध होता है** और आत्मा को ही पाने के लिए मूर्तिपूजा का विधान है, राह है।

(127) उत्क्रमिष्यत एवं भावदित्यौडूलोमिः ।।1 ।4 ।2 ।।
उत्क्रम, इष्यत, एवं, भावात्, इत्य, औडूलोमि।

उत्तरोतर क्रम से भी यही सत्य प्रकट होता है एवं भावादिक क्रम से भी मात्र यही सत्य प्रकट है कि ब्रह्महो जीवमात्र की पहचान है। ऐसा औडुलोमि आचार्य भी मानते है। औडु अर्थात हर ओर से "लोम" अर्थात

बालों से ढंका हुआ, एक ऋषि का नाम लोमष ऋषि, भालू आदि।

जिन आत्म-ज्योतियों के यज्ञ से हमने यह मनुष्य रूप पाया है पुनः उत्तरोत्तर उत्थान के लिए, अमर देवत्व की प्राप्ति के लिए हमें पुनः पूर्ण निष्ठा के साथ सामिग्रीवत इस आत्म-यज्ञ की ज्योतियों में स्वयं को यज्ञ करना होगा। इस प्रकार ऊपर उठते हुए क्रम से भी देखने पर हम यही पाते है कि आत्मा ही हमारी सत्य पहचान है वही हमारा उत्पत्ति दाता है।

मनु से उत्पन्न होने के कारण हम मनुज (मनु के जाये) मनुष्य कहलाते है। मनु कहते है काल (समय) को मनु (काल) तथा शतरूपा (प्रकृति, वनस्पति) की हम सब संतान है। समय से हम यह मनुष्य रूप पाते हैं तथा समय पूरा हो जाने पर यह शरीर त्याग कर चले जाते है, इसलिए समय रहते हमें आत्म-स्वरूप की पहचान कर उसमें स्थित होरक आवागमन से परे अमर जीवन को धारण करना चाहिए।

(128) अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।।1 ।4 ।2 ।।

अवस्थितेः, इति, काशकृत्स्नः।

अवस्थित अर्थात सब में नित्य स्थित ब्रह्म आत्मा ही आकाशों को उत्पन्न, दृश्य करने वाला है। काश शब्द से आकाश, गगन, क्षीरसागर आदि की कल्पना तथा उत्पत्ति अमरकोश एवं निरूक्त ने मानी है। **"काश" अर्थात् आकाश, प्रकाश, ज्योति तथा काश्चकृत्स्न का अर्थ है करने वाला अर्थात् उत्पन्न करने वाला** परमेश्वर, स्वामी आदि घट-घट वासी ब्रह्म ही को काशकृत्स्न ऋषि ने भी माना है ।

सनातन धर्म आत्मा का धर्म है तथा प्रकृति ही इसका मूल ग्रंथ है। इसकी मान्यता है कि सत्य अपौरूषेय होता है। किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा सत्य प्रतिपादित नहीं होता है। प्रकृति से प्रमाणित होने पर ही सत्य को स्वीकारा जाता है।

काषकृत्स्नु ऋषि ने भी माना है कि परब्रह्म ईश्वर जो समस्त आकाश आदि को उत्पन्न करता है तथा सब कुछ **उसी ब्रह्म में ही अवस्थित है ऐसा परमब्रह्म, आत्मा होकर हम सब में समाया हुआ है।**

बिना किसी भेद-'भाव के ब्रह्म आत्मा होकर समभाव से समस्त सचराचर, जीवधारियों में स्थित है। **अभेद ब्रह्म को भेद दृष्टि रखने वाले कभी ईश्वर को नहीं पाते है उन्हें अनेक योनियों में भटकना पड़ता है।**

'यत पिण्डे तत् ब्रह्माण्ड', सम्पूर्ण सचराचर के सूक्ष्म चित्र की भाति ही आत्मा हमें उत्पन्न करता है। **मनः काश, मन रूपी आकाश भी आकाश का ही अंश है जहॉ हमारी सारी कल्पनाये इसी मन रूपी आकाश में विचरण करती है।**

प्रकृति को प्रमाण में देने का उदाहरण हम श्रीमदभागवत गीता में देखते है। जब श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं कि **"शुक्ल कृष्णे गतिह्मते जगतः शाश्वते मते"** शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार की इस जगत की गतियाँ है। **एक गति को प्राप्त हुआ योगी कभी पीछे लौटकर नही आता है** तथा दूसरी गति से गये व्यक्ति बारम्बार जन्म-मरण रूपी गतियों को प्राप्त होते है। इसी प्रकार **"आब्रह्म-भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन"** हे अर्जुन ब्रह्म लोक से लेकर सब लोक पुनरवार्ती आवागमन को प्राप्त हैं, परन्तु मेरे **(आत्मा, आत्मा-कुण्ड)** को प्राप्त होकर (उसका) पुनर्जन्म नही होता है क्योंकि वह मेरा ही रूप हो जाता है। यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण भी जो उपदेश दे रहे है। उसे प्रकृति तथा समस्त जगत और ब्रह्माण्ड के साथ जोड़कर सिद्ध भी कर रहे है।

(129) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।।1 ।4 ।23 ।।

प्रकृति आदि भी पूर्व में प्रतिज्ञा आदि ब्रह्म-सूत्र में तथा नाना दृष्टान्तादिक मे तथा उपमाओं में सर्वत्र ब्रह्म से ही पहचान अभिव्यक्ति आदि को सिद्ध किया गया है। व्यक्ति ब्रह्म अर्थात आत्मा द्वारा ही चिन्हित होता है। पुत्र, पति, पत्नी, माता-पिता आदि पद एवं विशेषण उसे ब्रह्मस्थ भाव में ही मिलते है। ब्रह्म आत्मा से रहित उसका शरीर मिट्‌टी अथवा राख में बदलने के उपरान्त सभी प्रकार की पहचान चिन्ह खो देता है। अपने स्वजन की देह की भस्मी को कोई स्त्री पति नहीं कहती तथा पुत्र उसे पिता नहीं कहता है।

इस सूत्र में प्रकृतिश्च से यह तात्पर्य है कि **वाह्य स्थूल भौतिक प्राकृतिक अवस्था को ही अपनी पहचान अथवा संकल्प बनाये रखना सत्य नहीं है।** स्थूल दृश्य जगत को ही अन्तिम सत्य मान लेना अज्ञानता है। स्थूल शरीर जब राख हो जाता है तो इसकी कोई पहचान नहीं रहती है। जो कुछ भी हमारी पहचान है वह ब्रह्म आत्मा से ही है।

(130) अभिध्योपदेशाच्च ।।1 ।4 ।2 ।।

अभिध्या, उपदेशात् च।

आत्मा के सम्मुख, आत्मा में ही नित्य ध्यान चिन्तन, मनन तथा आत्म-तत्व को प्राप्त करने का उपदेश सर्वत्र हुआ है।

सभी सद्ग्रंथों स्मृति वेदादिक सभी भाष्य ग्रंथों में जो कुछ भी उपदेश हुआ है कि, ब्रह्म हर घट में आत्मा होकर पूर्ण रूप में समाया हुआ है। **ईश्वर की बनायी सृष्टि अद्भुत है। सारे जीवधारी अपने में पूर्ण है** क्योंकि सब में ब्रह्म समाया हुआ है। इसलिए हमें ब्रह्म आत्मा को सम्मुख रख कर ध्यान करना चाहिए।

(131) साक्षाच्चोभ्याम्नानात् ।।1 ।4 ।2 ।।

साक्षाच् (साक्षात्), च, उम्याम, नानात्।

प्रकट नित्य सत्य, आत्म-यज्ञ, आत्मा ही है तथा ब्रह्म ही नाना सृष्टियों का उत्पत्ति आदि का मूल है एवं आत्म यज्ञ ही सक्षम् है।

जो स्पष्ट है, साक्षात है, सम्मुख है वह मेरा अंतर जगत आत्मा ही है। वह उभय रूप से सामान भाव से सर्वत्र बैठा है वही नाना उत्पत्ति का मूल है वह ब्रह्म ही है। पूर्व सूत्रों में स्पष्ट हुआ है कि जिसने आकाशों, नक्षत्रों, ग्रहों आदि को प्रकट किया है वह ब्रह्म सूक्ष्म होकर हमारे में बैठा है,वही हमारे जीवन का आधार है, इसलिए **प्रत्येक सांस में हमें अपनी आत्मा का सम्मान करना चाहिए।**

(132) आत्मकृते परिणामात् ।।1 ।4 ।26।।

सम्पूर्ण जीवन सचराचर आत्मा ब्रह्म की ही कृति है। आत्म-यज्ञ का ही परिणाम है। ग्रह, नक्षत्र, पौधे, जीवधारी सम्पूर्ण आत्मा अर्थात ब्रह्म-'यज्ञ से दृश्य, प्रकट उत्पन्न होते तथा आत्मा द्वारा ही स्थायित्व को प्राप्त होते है।

धर्म हमें सृष्टि, उत्पत्ति, प्रलय के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा पैदा करता है तथा अपने होने के कारा को जानना ही धर्म है। वह कौन है? जो हमें उत्पन्न करता है। क्यों करता है? मिट्टी, पानी, अन्न, फल, समस्त जीवधारियों, मनुष्य का रूप कैसे पाते है तथा बारम्बार वह हमें शरीर की मृत्यु के बाद भी पुनःपुनः क्यों उत्पन्न कर रहा है? जीवन के इन अनसुलझे रहस्यों का उत्तर हमें धर्म में मिलता है।

हमारे शरीर की उष्मा (गर्मी) जिस यज्ञ के कारण है वह आत्म-यज्ञ ही है जिससे हमें जीवन का प्रत्येक क्षण मिल रहा है। आत्म-यज्ञ में आत्मा आचार्य है, प्राणवायु उपाचार्य तथा सम्पूर्ण जीवन का प्रत्येक क्षण इस यज्ञ की सामिग्री है। **ऐसी राज (ज्योतियों) का यज्ञ ही सचराचर का उत्पन्न कर रहा है,** यही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश है। गीता में भी इसी यज्ञ का वर्णन है। **हम सब जीव जब इस आत्म-यज्ञ में घुलमिल जाते है तभी मोक्ष संभव है तथा एक नया जीवन देवत्व का प्राप्त होता है।**

"आत्मकृतः परिणामात," इस सूत्र का भावार्थ भी यही है कि आत्मा का ही परिणाम हम सब है। सम्पूर्ण सचराचर, ग्रह, नक्षत्र, तारामण्डल यह सब आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होते है। **आत्मा ही यज्ञ, ईश्वर, कृष्ण व राम है। आत्मा ही परमात्मा का लीलावतार है, हम सब आत्मा की ही कृति है।**

(133) योनिश्च हि गीयते ।।1 ।4 ।27।।

योनिः, च, हि, गीयते।

योनि में जीव आत्मा द्वारा ही आता है तथा आत्मा, ब्रह्म ही योनि का रचनाकार , रक्षक, विधाता तथा दीर्घायु प्रदाता है। भले ही जीव योनि के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है **परन्तु जीव योनि में प्रवेश करता तथा**

परित्याग कर जाने वाला यात्री है। योनि उसका अल्प ठहराव, विश्राम स्थल है। जीव किसी योनि (शरीर) का रचयिता अथवा निर्माता नही है।

यह सत्य है कि जीव योनि के द्वारा ही जाना जाता है, लेकिन इस योनि में जीव को लाने वाला ब्रह्म आत्मा ही है। योनि एक क्षणिक ठहराव है जीवन यात्रा का। एक ही जीव अनेक योनि में जन्म लेता है। **योनि में जीव ग्रहण किया जाता है, यह जीव के वश में नहीं है कि वह अपनी इच्छा से योनि का चयन करें।**

(134) एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।।1 ।4 ।28 ।।

इस प्रकार इस भांति जो प्रथम अध्याय में विस्तार से सब कुछ जाना है तथा जिसकी व्याख्या हमने स्पष्ट की है, ऐसा ही सर्वत्र श्रुति, स्मृति तथा लीला ग्रंथों नाना व्याख्यानों में कहा गया है भेद का कोई स्थान नहीं है। **आत्मा ही ब्रह्म है आत्मा ही परमात्मा का लीलावतार है। आत्मा ही घट-घट वासी अजर अमर, अविनाशी श्री राम, श्रीकृष्ण, ब्रह्म, विष्णु, महेश का प्रतिरूप है।** आत्म-यज्ञ से ही सचराचर की सृष्टि, उत्पत्ति जीवन मरण सिद्ध है।

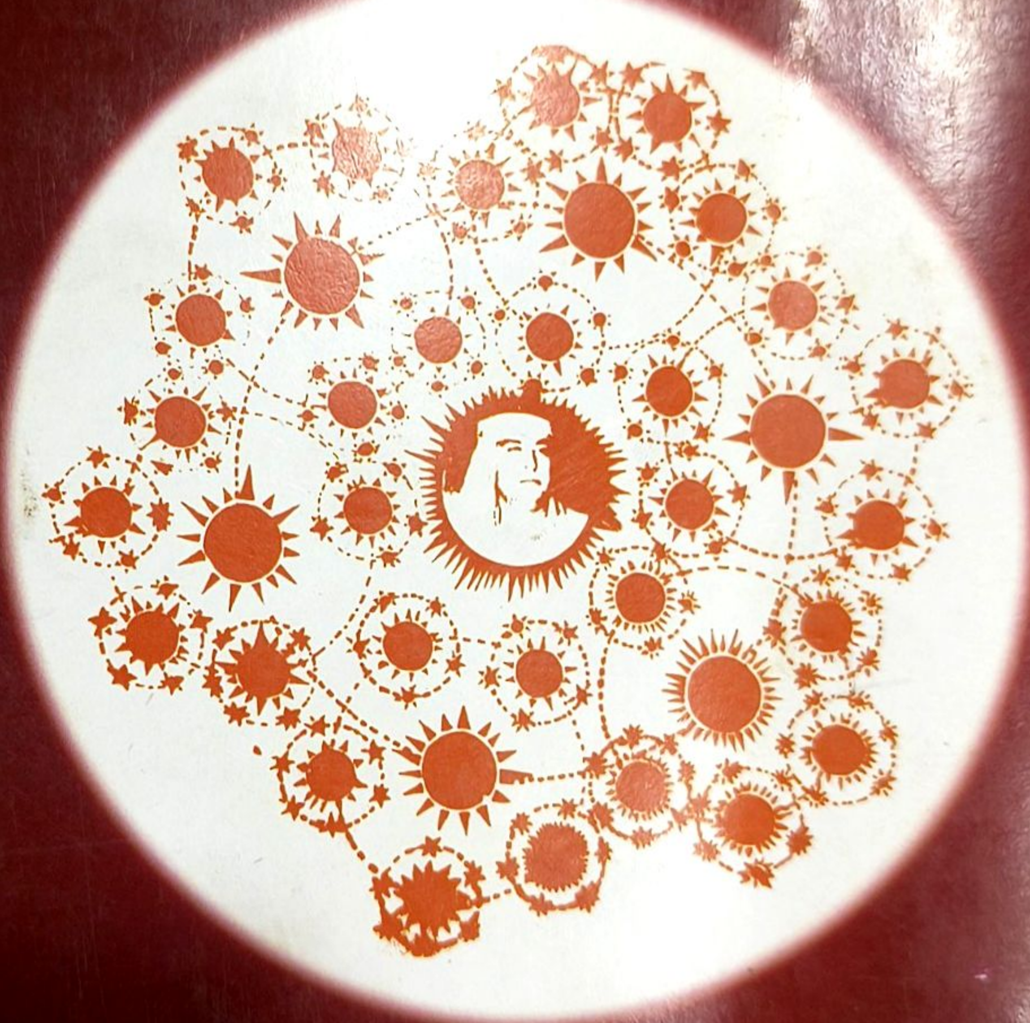
ब्रह्मसूत्र अध्यात्म तत्व की सीमांकन करते है। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रकार प्रथम अध्याय में निर्गुण निराकार ब्रह्म को स्पष्ट कर ब्रह्म का परिचय देते हैं। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करते है कि जैसे एक दीवार जो बिल्कुल कोरी है उसमें कुछ भी चित्र आदि नहीं है उसे हम निर्गुण निराकार ब्रह्म से तुलना कर सकते है। उस दीवार पर कोई चित्रकार कोई चित्र बना दे तो दीवार की पहचान उस चित्र के रूप में होने लगती है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब दीवार का अस्तित्व ही नहीं है, **इसी प्रकार सम्पूर्ण सगुण साकार जगत निर्गुण निराकार ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है।**

इस प्रकार सभी ग्रंथो, श्रुति, लीला कथाओं में जो कुछ भी व्याख्या की गई है वह यही है **"एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति"** सब कुछ ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसलिए **ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई सत्ता नहीं है,** सबमें उसी की

व्याख्या है तथा सभी व्याख्याकारों ने उसे ही स्वीकारा है।

इति श्री ब्रह्मसूत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद।

गुर्रुब्रह्मा, गुर्रुविष्णु, गुर्रुदेवो, महेश्वरः।
गुरुसाक्षात परंब्रह्म, तस्मैं श्रीगुरुवैनमः।।



श्री स्वामी सनातन श्री

गुरुरेवपरंब्रह्मं गुरुरेव परागतिः।
गुरुरेव पराविद्या गुरुदेव परायणम्।।

गुरु ही परायण के योग्य हैं।